राजिम

डा. विष्णुसिंह ठाकुर

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

राजिम

डा० विष्णु सिह ठाकुर

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

राजिम

डा० विष्णु सिंह ठाकुर

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

राजिम

शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
९७, मालवीय नगर, भोपाल

संस्करण
१९७२

©
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

मूल्य
पुस्तकालय संस्करण : ११ रुपये
साधारण संस्करण : ८.५० पैसा

मुद्रक
श्री अमृतलाल परवार, सिंघई प्रिंटिंग प्रेस, जबलपुर

प्रस्तावना

राजिम छत्तीसगढ़ क्षेत्र का प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। दक्षिण कोशल में बिखरे हुए ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भग्नावशेषों में राजिम का स्थान प्रमुख है। अपने अमूल्य कला एवं सांस्कृतिक महत्त्व के कारण आज भी यह स्थान प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व के जिज्ञासुओं के लिए महत्वपूर्ण आकर्षण है। किसी समय यह स्थान मन्दिरों की महानगरी था। आज भी वह जाने अनजाने छत्तीसगढ़ क्षेत्र का तीर्थ स्थल बना हुआ है। पवित्रता की इस भावना का महानदी भी एक बड़ा कारण है, जो दक्षिण कोशल में गंगा के समान पवित्र मानी जाती है। आज भी यहाँ फाल्गुन मास में मेला लगता है और दूर-दूर तक के यात्री भगवान राजीवलोचन एवं कुलेश्वर महादेव के दर्शन करने आते हैं। जिस प्रकार हरिद्वार की यात्रा दक्षिण में रामेश्वरम् से सम्बद्ध है उसी प्रकार जगन्नाथपुरी की यात्रा की पूर्णता: राजिम स्थित साक्षी गोपाल देव के दर्शन से होती है।

राजिम से प्राप्त शिला-लेख भी कम महत्व के नहीं हैं। राजिम के पास ही प्राप्त मुद्रा से विक्रमादित्य और महेन्द्रादित्य के अस्तित्व पर प्रकाश पड़ा है। राजिम से प्राप्त महाशिव तीवर-देव का ताम्र-पत्र न केवल ऐतिहासिक अपितु साहित्यिक दृष्टि से भी बड़े महत्व का है। विलासतुङ्ग के नलवंश, रतनपुरी के कल्चुरि शासक जाज्ज्वल्यदेव प्रथम एवं रत्नदेव द्वितीय की जानकारी भी इसी लेख से मिलती है। राजिम मन्दिरों की नगरी थी। यह दक्षिण कोशल के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैष्णव पीठ रहा है। सम्भवत: महाभारत के आरण्यक पर्व एवं वराहपुराण में वर्णित बदरी तीर्थ का ही यह परिवर्तित नाम है। पुरातात्विक अवशेषों, मन्दिरों में संरक्षित शिला-लेख स्तम्भों पर उत्कीर्ण यात्रिक लेखों, मन्दिरवास्तु, स्थापत्य-कला, आदि सभी दृष्टियों से मध्यप्रदेश छत्तीसगढ़ की इस प्राचीन सांस्कृतिक थाती पर गर्व कर सकता है।

राजिम के इसी सांस्कृतिक एवं पुरातात्विक महत्व को ध्यान में रखते हुए अकादमी ने इस पर एक स्वतन्त्र मोनोग्राफ प्रकाशित करना उचित समझा। डा० विष्णु सिंह ठाकुर प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति के प्राध्यापक होने के साथ-साथ इस प्रदेश से निकट रूप से परिचित भी हैं। मेरे अनुरोध पर उन्होंने दो बार इस स्थान का सूक्ष्म निरीक्षण किया और चित्रकार को साथ ले जाकर कई दुर्लभ चित्र उतरवाये। इस प्रक्रिया के व्ययसाध्य होने पर भी इससे पुस्तक की उपयोगिता एवं

प्रामाणिकता में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। और यह बात विश्वास पूर्वक कही जा सकती है कि राजिम के सम्बन्ध में अब तक प्रकाशित सम्पूर्ण साहित्य में—चाहे वह अंग्रेजी हो या किसी भारतीय भाषा में—यह पुस्तक सर्वाधिक पूर्ण एवं उपादेय है। आशा है, प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्व के अधिकारी विद्वान् एवं प्रेमी इस प्रकाशन से प्रसन्नता का अनुभव करेंगे।

(डा० प्रभुदयालु अग्निहोत्री)
सचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,

अनुक्रमणिका

अध्याय		पृष्ठ संख्या
	प्रस्तावना	
१.	पूर्वपीठिका	१-१९
२.	पुरातात्त्विक अवशेष एवं उनका महत्त्व	२०-४५
३.	मन्दिर-वास्तु : सामान्य लाक्षणिक परिचय	४६-६०
४.	स्थापत्य कला	६१-१०५
५.	मूर्तिकला	१०६-१३०
	परिशिष्ट क्रमांक १	१३१-१३२
	परिशिष्ट क्रमांक २	१३३-१३६

चित्र–सूची

चित्रफलक क्रमांक	विवरण
१.	(१) प्राचीन दक्षिण कोशल के अन्तर्गत स्थित महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थलों में राजिम की स्थिति सूचक नक्शा
	(२) नये मध्यप्रदेश में राजिम की स्थिति सूचक नक्शा
	(३) राजिम को जोड़ने वाला रेलमार्ग
	(४) राजिम को जोड़ने वाली सड़क
२.	राजिम के पुरातात्त्विक महत्त्व के स्थलों का सूचक मानचित्र
३.	राजिम से प्राप्त मृण्पात्र अवशेषों की रेखानुकृति (अ)
४.	राजिम से प्राप्त मृण्पात्र अवशेषों की रेखानुकृति (आ)
५.	पितईबंद ग्राम से प्राप्त महेन्द्रादित्य एवं क्रमादित्य के स्वर्ण सिक्के ।
	अ–मुद्रा क्रमांक १ से ३ क्रमादित्य के हैं ।
	आ–मुद्रा क्रमांक ४ से १२ महेन्द्रादित्य के हैं ।
६.	महाशिव तीवर देव का राजीवलोचन मन्दिर में संरक्षित ताम्रपत्र लेख ।
७.	राजीवलोचन मन्दिर की वामपार्श्वभित्ति पर जड़ा जगपालदेव का कलचुरि सम्वत् ८९६ का शिलालेख ।
८.	राजिम के देवायतनों के महामण्डपों के कतिपय विशिष्ट स्तम्भों की रेखानुकृतियाँ—
	(१) राजेश्वर महादेव मन्दिर के महामण्डप का स्तम्भ ।
	(२) राजीवलोचन मन्दिर-प्राकार प्रवेश-द्वार के अन्तःप्रकोष्ठ का एक स्तम्भ ।
	(३) राजेश्वर महादेव मन्दिर के महामण्डप का एक स्तम्भ ।
	(४) राजीवलोचन मन्दिर-प्राकार प्रवेश द्वार के बाह्य प्रकोष्ठ का वाम स्तम्भ ।
	(५) राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप का एक स्तम्भ ।
९.	(१) राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार-प्रवेशद्वार का बाह्य प्रकोष्ठ ।
	(२) राजीव लोचन मन्दिर के प्राकार-प्रवेशद्वार के बाह्य प्रकोष्ठ का दक्षिण स्तम्भ ।
१०.	(१) राजीवलोचन मन्दिर-प्राकार-प्रवेशद्वार का सिरदल—
	अ–प्रथम शाख से सम्बद्ध सिरदल के ललाटबिम्ब पर सद्यःस्नाता गजलक्ष्मी ।
	आ–द्वितीय शाख से सम्बद्ध सिरदल के ललाट बिम्ब पर दोनों प्रलंबित हाथों में नागों को पकड़े गरुड़ ।

चित्रफलक क्रमांक	विवरण
	इ—तृतीय शाख से सम्बद्ध सिरदल के ललाट बिम्ब पर अनन्तशायी विष्णु ।
	(२) राजीवलोचन मन्दिर प्राकार-प्रवेशद्वार के वामभित्ति स्तम्भ पर पूर्ण उभार में बनायी गयी नायिका (मही-माता) मूर्ति ।
	(३) राजीवलोचन मन्दिर-प्राकार-प्रवेशद्वार के दक्षिणी भित्तिस्तम्भ पर पूर्ण उभार में बनायी गयी श्रृंगार-नायिका (मानवी कन्या) मूर्ति ।
११.	राजीवलोचन मन्दिर के गर्भसूत्रीय (भू-विन्यास) योजना का मानचित्र ।
१२.	राजीवलोचन मन्दिर के गर्भगृह का प्रवेशद्वार ।
१३.	राजीवलोचन मन्दिर के उत्सेध-विन्यास (ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था) को प्रकट करने वाला छायाचित्र ।
१४.	(१) राजेश्वर महादेव मन्दिर के उत्सेध-विन्यास को स्पष्ट करने वाला छायाचित्र ।
	(२) राजेश्वर महादेव मन्दिर के भू-विन्यास (गर्भसूत्रीय) व्यवस्था का मानचित्र ।
१५.	(१) दानेश्वर मन्दिर के उत्सेध विन्यास का छायाचित्र ।
	(२) दानेश्वर मन्दिर के गर्भसूत्रीय व्यवस्था का मानचित्र ।
१६.	(१) पंचेश्वर महादेव मन्दिर का छाया चित्र ।
	(२) कुलेश्वर महादेव मन्दिर का छाया चित्र ।
१७.	रामचन्द्र मन्दिर का छाया चित्र ।
१८.	रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप के स्तम्भ तथा उन पर उभार में बनायी गयी प्रतिमायें—
	(१) बाईं कतार के तीसरे स्तम्भ पर उभार में बनायी गयी नायिका मूर्तियाँ ।
	(२) दक्षिण पंक्ति के तीसरे स्तम्भ पर उभार में बनायी गयी शाल-भंजिका प्रतिमा ।
	(३) बाईं पंक्ति के दूसरे स्तम्भ पर बनाई गई मिथुन-मूर्ति ।
	(४) बाईं पंक्ति के चतुर्थ स्तम्भ पर उत्खचित विविध-विषय ।
१९.	(१) सोमेश्वर महादेव मन्दिर का छाया-चित्र ।
	(२) भूतेश्वर मन्दिर का छाया-चित्र ।
२०.	(१) सोमेश्वर महादेव मन्दिर के प्रांगण में रखी हुई जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा ।
	(२) राजीवलोचन मन्दिर-प्राकार-प्रवेशद्वार के अन्तःप्रकोष्ठ में स्थापित बुद्ध की भू-स्पर्श मुद्रा में प्रतिमा ।
२१.	(१) कुलेश्वर महादेव मन्दिर के वाम-पार्श्व के प्रथम भित्ति-स्तम्भ पर बनायी गयी कार्तिकेय की प्रतिमा ।

चित्रफलक क्रमांक	विवरण
	(२) भूतेश्वर महादेव मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेशद्वार के पार्श्व में जड़ी हुई महिषासुर-मर्दिनी की प्रतिमा ।
	(३) कुलेश्वर महादेव मन्दिर के द्वितीय वामपार्श्व-भित्तिस्तम्भ पर पूर्ण उभार में बनायी गयी देवी उत्पलाक्षी की मूर्ति ।
२२.	(१) राजीवलोचन मन्दिर के गर्भगृह में प्रस्थापित यज्ञ पुरुष रूप में चतुर्भुजी विष्णु की स्थानक-मुद्रा में मूर्ति ।
	(२) दानेश्वर महादेव मन्दिर के दक्षिण में प्राकारभित्ति पर जड़ी हुई विष्णु प्रतिमा का ऊर्ध्वांग ।
२३.	(१) राजीवलोचन मन्दिर के अनुषांगिक वाराह-देवलिका में प्रस्थापित नृवाराह की मूर्ति ।
	(२) रामचन्द्र मन्दिर के चौथे वामपार्श्वभित्तिस्तम्भ पर बनाई गई नृ-वाराह की प्रतिमा ।
	(३) नरसिंह मन्दिर में प्रस्थापित नृसिंह की मूर्ति ।
२४.	(१) वामन मन्दिर में प्रस्थापित विष्णु के वामनावतार से सम्बन्धित मूर्ति ।
	(२) जगन्नाथ मन्दिर में प्रवेश के लिए बनाये गये प्रवेश-द्वार के पार्श्व में जड़ी हुई त्रि-विक्रम मूर्ति ।
	(३) बद्रीनारायण मन्दिर के गर्भगृह में प्रस्थापित नारायण तपश्चर्या अथवा बैकुण्ठनारायण की मूर्ति ।
२५.	रामचन्द्र मन्दिर के दोनों पार्श्वों के प्रथम भित्तिस्तम्भों पर पूर्ण उभार में बनायी गयी नदी देवी गंगा की प्रतिमाएँ क्रमांक १ वाम भित्ति स्तम्भ की मूर्ति है एवं क्रमांक २ दक्षिणभित्तिस्तम्भ की मूर्ति है जिसके पाद-पीठ पर मत्स्य-युग्म का अंकन है ।
२६.	(१) एवं (२) राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार-प्रवेशद्वार के पाखों पर उत्खचित मिथुन मूर्तियाँ हैं ।
	(३) दानेश्वर मन्दिर के सामने प्राकार-भित्ति पर जड़ी हुई किसी अज्ञात राजपुरुष की भव्य प्रतिमा ।
२७.	(१) रामचन्द्र मन्दिर की वामपार्श्वभित्ति पर जड़ी हुई नागयुग्मों की प्रतिमा ।
	(२) राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के दक्षिणी प्रवेशद्वार की अंतः-भित्ति पर उत्खचित विविध क्रीड़ारत यक्षों की मूर्तियाँ ।
	(३) राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप में प्रवेश के लिए बनाये गये उत्तरी एवं दक्षिणी प्रवेशद्वारों के पाखों के अधोभाग पर आलेखित हरिहंस की मूर्ति ।

अध्याय : एक

पूर्व-पीठिका

सामान्य परिचय :

पैरी-महानदी संगम के पूर्व में बसा राजिम अत्यन्त प्राचीन समय से छत्तीसगढ़ का एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। कोशल अथवा दक्षिण कोशल के नाम से प्रख्यात प्राचीन जनपद विशेष की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक धारा से सदैव सामरस्य बनाये रखने वाला यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल २०·५८ अंश उत्तरी अक्षांश एवं ८१·३५ अंश पूर्वी देशांश पर स्थित है। मध्यप्रदेशान्तर्गत रायपुर जिले के बिन्द्रानवागढ़ तहसील का यह महान ग्राम अपने ७६४·८७९ हेक्टर विस्तार क्षेत्र में प्राचीन सभ्यता, संस्कृति एवं कला की अमूल्य निधि संजोये इतिहासकारों, पुरातत्वविदों और कलानुरागियों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। जिले के मुख्यालय रायपुर से दक्षिण-पूर्व की दिशा में (२९ मील) ५०·४ कि. मी. की दूरी पर, देवभोग जाने वाली सड़क पर यह स्थित है। एक अन्य सड़क इसे फिंगेश्वर होते हुए महासमुन्द से जोड़ती है। इस तरह यह ग्राम प्राचीन समय से चली आ रही अपनी सांस्कृतिक महत्ता को संबल बनाकर आज के नागर एवं वन्य-ग्रामजीवन के मध्य समरसता स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

मन्दिरों की इस प्राचीन महानगरी की पश्चिमी सीमा का निर्धारण दक्षिण-पश्चिम में क्रमशः पैरी नदी और महानदी द्वारा होता है। भूतेश्वर महादेव और पंचेश्वर महादेव के मन्दिरों तक पैरी नदी की पृथक सत्ता प्रत्यक्ष गोचर है।[1]

राजिम की पश्चिम दिशा में महानदी के दूसरे तट पर नयापारा नामक एक छोटा-सा नगर है। प्रारम्भ में यह राजिम का ही अंग था परन्तु अब स्वतन्त्र नगर हो गया है। रायपुर और नयापारा के मध्य रेलमार्ग है। बरसात के दिनों में नयापारा से राजिम जाने के लिए नदी को नाव द्वारा पार करते थे। जब पानी यथेष्ट कम हो जाता था तब इस पर आवागमन की सुविधा के लिए एक कच्चा पुल बना दिया जाता था। इस नदी पर नयापारा एवं राजिम को परस्पर जोड़ने के लिए अब एक स्थायी पुल बना दिया गया है।

यह छत्तीसगढ़ क्षेत्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तीर्थस्थल है। यहाँ के धार्मिक जीवन में पैरी-महानदी संगम को पवित्रतम स्थान प्राप्त है। श्राद्ध, तर्पण, पर्वस्नान, दान आदि धार्मिक कृत्यों के लिए इसकी सार्वजनीन महत्ता आंचलिक लोगों की

---

१. चित्रफलक—१.

परम्परागत आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास की स्वाभाविक परिणति के रूप में सद्यः प्रवहमान है। क्षेत्रीय लोग इस संगम को प्रयाग-संगम के समान ही पवित्र मानते हैं। इनका विश्वास है कि यहाँ स्नान करने मात्र से मनुष्य के समस्त कल्मष नष्ट हो जाते हैं तथा मृत्यूपरान्त वह विष्णुलोक प्राप्त करता है। छत्तीसगढ़ क्षेत्र में महानदी का वही स्थान है जो भारत में गंगा का है। यहाँ का सबसे बड़ा पर्व महाशिवरात्रि है। पर्वायोजन माघ मास की पूर्णिमा से प्रारम्भ होकर फाल्गुन मास की महाशिवरात्रि (कृष्णपक्ष-त्रयोदशी) तक चलता है। इस अवसर पर छत्तीसगढ़ के कोने-कोने से सहस्त्रों यात्री संगम-स्नान करने तथा भगवान राजीवलोचन एवं कुलेश्वर महादेव के दर्शन करने आते हैं। क्षेत्रीय लोगों की मान्यता है कि जगन्नाथपुरी की यात्रा उस समय तक सम्पूर्ण नहीं होती जब तक यात्री राजिम की यात्रा नहीं कर लेता। इस आंचलिक विश्वास के परिणामस्वरूप जगन्नाथपुरी की यात्रा से वापस आते समय यात्री राजिम के तीर्थक्षेत्र का दर्शन अवश्य करता है और यहाँ स्थित साक्षी-गोपाल को अपनी इस धर्मयात्रा का गवाह बनाता है। इस तरह जनपदीय लोक-विश्वास इसे साक्षी तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक महत्व का स्थल :

प्राचीन दक्षिण कोशल के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में राजिम क्षेत्र का उल्लेखनीय योगदान रहा है। भारतीय संस्कृत वाङमय में इसके सम्बन्ध में जो स्फुट संकेत प्राप्त होते हैं तथा यहाँ से प्राप्त प्राचीन ताम्रपत्रों, शिलालेखों, मुद्राओं, स्मारकों एवं अन्य अवशेषों के अध्ययन-परीक्षण से जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे या तो इस जनपद के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के सम्बन्ध में इतर स्रोतों से ज्ञात अनेक तथ्यों की प्रामाणिकता को पुष्ट करते हैं अथवा उन्हें परिष्कृत कर सत्य रूप प्रदान करने में सहायक होते हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में पुरातत्त्वीय उपलब्धियों की उपादेयता सर्वमान्य तथ्य है। फलतः वे स्थान जहाँ से पुरातात्त्विक सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं, इतिहास एवं संस्कृति के अध्येयताओं तथा अनुसंधानकर्त्ताओं के लिए सहज आकर्षण के केन्द्र हो जाते हैं। इस दृष्टि से छत्तीसगढ़ क्षेत्रान्तर्गत ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक महत्व के जो स्थान हैं, उनमें राजिम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह एक ऐसा स्थान है, जहाँ से प्राप्त सामग्रियों का सम्बन्ध किसी युग विशेष से न होकर भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक कालों से है। यहाँ से प्राप्त सामग्रियों का विषय राजनीतिक एवं सांस्कृतिक–उभय प्रकृति का है, और इतिहास निर्माण के साधन रूप में उनका महत्व अनुसंधानकर्त्ताओं के लिए अपरित्याज्य-सा है। राजिम से लगे हुए पितईबंद नामक ग्राम से प्राप्त मुद्रानिधि द्वारा पहली बार 'क्रमादित्य' नामक सर्वथा अज्ञात नरेश की ऐतिहासिकता प्रकाश में आयी है, साथ ही 'महेन्द्रादित्य' के साथ उसके पारिवारिक सम्बन्ध का होना भी प्रमाणित हो सका। महाशिव तीवरदेव का जो ताम्रपत्र राजिम से प्राप्त हुआ है, उससे उसकी साम्राज्य सीमा के निर्धारण में सहायता मिलती है।

विलासतुंग के नलवंश की इतिवृत्ति के ज्ञान का एकमात्र साधन राजीवलोचन-मंदिर से प्राप्त शिलालेख है। रतनपुरी के कलचुरी नरेश जाजल्लदेव प्रथम एवं रत्नदेव द्वितीय की कतिपय ऐसी विजयों का उल्लेख, उनके सामन्त जगपालदेव के राजीवलोचन मन्दिर से ही प्राप्त अन्य शिलालेख में हुआ है, जिसके सम्बन्ध में अन्य लेखों से कोई सूचना नहीं मिलती।[१] यहाँ के मन्दिर एवं देव-प्रतिमाएँ लोगों की धार्मिक आस्था पर प्रकाश डालती हैं, साथ ही भारतीय स्थापत्यकला एवं मूर्तिकला के इतिहास में छत्तीसगढ़ अंचल के ऐश्वर्यशाली योगदान को लिपिबद्ध करते समय अपने लिए विशिष्ट स्थान की अपेक्षा रखने वाले उदाहरण हैं। सामान्य सर्वेक्षण में यहाँ से बहुत बड़ी मात्रा में मृत्पा के अवशेष प्राप्त होते हैं। इनके आधार पर यहाँ के सांस्कृतिक अनुक्रम का अनुमानित कालक्रम निर्धारित कर पाना सम्भव हो सका है। इन मृण्मय अवशेषों के अध्ययन-परीक्षण द्वारा ही अब राजिम में पल्लवित संस्कृति का प्रारम्भ चाल्कोलिथिक युग में होना सम्भावित सत्य के रूप में घोषित किया जाने लगा है।[२]

परन्तु पुरातात्त्विक निधि के इस आगार का अध्ययन उस समय तक अधूरा रहेगा, जब तक यहाँ बृहत-पैमाने पर उत्खनन का कार्य नहीं हो जाता। इस रिक्तता के फलस्वरूप अनेक निष्कर्षों के वर्तमान में सर्वाङ्गपूर्ण एवं अन्तिम प्रतीत होते हुए भी भविष्य में सर्वथा दोषमुक्त स्वीकार किये जाने की सम्भावना संदिग्ध बनी रहेगी।

राजिम के इतिहास की अन्तःप्रकृति राजनीतिक न होकर सांस्कृतिक है। इसके उन्नयन में राजवंशों का ऐश्वर्यशाली एवं विलासिता पूर्ण जीवनादर्श किसी भी युग में एकाकी रूप से गतिमान नहीं दिखायी देता। यहाँ का प्राचीन सांस्कृतिक कलेवर मूलतः लोक-जीवन की विविध उपलब्धियों द्वारा अभिषिक्त रहा है।

अद्यावधि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर जब हम राजिम के ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक महत्व का इस अंचल के अन्य प्रमुख प्राचीन स्थानों, जैसे—सिरपुर, रतनपुर, मल्लार, सोनपुर (यद्यपि यह स्थान अब उड़ीसा में है, परन्तु प्राचीन समय में यह दक्षिण कोशल के अन्तर्गत था) आदि, से तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तो ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक युगों में इसके विकास के मूल में सर्वसामान्य जनता की आकांक्षाएँ एवं अभिलाषाएँ ही प्रमुख रूप से क्रियाशील रही हैं। जन-आकांक्षाओं को तुष्ट करने के उद्देश्य से, अथवा अपनी वैयक्तिक सांस्कृतिक उपलब्धियों को जन-जन तक पहुँचाने की अभिलाषा से शासक वर्ग का भी प्रत्यक्ष सहयोग अपने उत्कर्ष के लिए इसे समय-समय पर प्राप्त होता रहा है। इस तरह राजिम की प्राचीन सांस्कृतिक उपलब्धियों का सामान्य जन-जीवन से अत्यन्त ही निकट का सम्बन्ध रहा है। इसके विपरीत अन्य स्थानों के उत्कर्ष में यथेष्ट सीमा तक राजनीतिक आधार ही कारण-भूत रहा है। अपनी धारणा की पुष्टि के लिए हम सिरपुर को एक उदाहरण के रूप

---

१. इन प्राप्तियों का विस्तृत वर्णन अध्याय २ में किया गया है।

२. सागर विश्वविद्यालय के प्रो० झा ने रायपुर से प्रकाशित दैनिक पत्रों में दिनांक ७-७-७० को इसकी सूचना दी है, परन्तु लेखक को सर्वेक्षण में सम्बन्धित संकेत प्राप्त नहीं हो सका है।

में प्रस्तुत कर सकते हैं। यह प्राचीन दक्षिण कोशल के दो प्रमुख राजवंशों-शरभपुरियों एवं सोमवंशियों की राजधानी रही है। अतः इसके विकास में शासकों की वैयक्तिक भावनाओं, अभिरुचियों एवं उनके राजत्वकाल की विशिष्ट परिस्थितियों का प्रत्यक्ष प्रभाव रहा है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि विशुद्ध राजनीतिक प्रश्रय द्वारा पोषित एवं सम्वर्धित होने के कारण जो शताब्दियों तक ऐश्वर्य एवं समृद्धि की देवी का निवास-स्थान रहा, उसे अपने आश्रयदाता के वंश के पतन के साथ ही श्रीहीन होना पड़ा। जो कभी अपने ऐश्वर्य एवं समृद्धि के कारण 'श्रीपुर' नाम को सार्थक करता था, आज वह दुर्गम वनवीथियों से आवृत, उदास, क्लान्त, शोभाहीन एवं उपेक्षित छोटा-सा ग्राम मात्र रह गया है। बहुत कुछ अंशों में यही स्थिति रतनपुर, मल्लार, सोनपुर (सुवर्णपुर) आदि स्थानों की भी रही है।

यद्यपि राजिम ने अपने सुदीर्घ ऐतिहासिक जीवन में कभी उत्कर्ष का सुख भोगा है, तो कभी-कभी उसे अपकर्ष की पीडा भी झेलनी पड़ी है, पर किसी भी युग में धार्मिक एवं सांस्कृतिक भावभूमि पर अवलम्बित जन-आस्था का सम्बल प्राप्त रहने से इसके विकास की सद्यःप्रवहमान धारा को पूर्णतया अवरुद्ध नहीं किया जा सका। युग विशेष की बदलती मान्यताओं एवं परिस्थितियों के सम्यक् प्रभाव द्वारा नियंत्रित परम्परा तथा आस्था को सदैव प्रश्रय देने वाली यह ऐश्वर्यशाली नगरी छत्तीसगढ़ क्षेत्र के यथेष्ट प्राचीन समय से लेकर वर्तमान युग तक की सांस्कृतिक उपलब्धियों से इतिहासकारों, पुरातत्त्वविदों एवं सामान्य जिज्ञासुओं को परिचित कराने में समर्थ है। अतः यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि राजिम का ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक दृष्टि से अध्ययन प्राचीन दक्षिणकोशल अर्थात् वर्तमान छत्तीसगढ़ के सांस्कृतिक इतिहास के सम्यक् ज्ञान के लिए आवश्यक है।

राजिम के इतिहास निर्माण के साधन तथा उसकी प्रकृति :

प्राचीन भारतीय वाङमय में राजिम के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष उल्लेख का अभाव है और यदि किसी ग्रन्थ में कोई वर्णन हो भी तो प्राचीन समय में इसके प्रचलित नाम अथवा नामों की अज्ञानता के कारण उसका निश्चयात्मक उपयोग कठिन है। महाभारत तथा पुराण आदि ग्रन्थों के जिन उल्लेखों का सम्बन्ध राजिम के सन्दर्भ में स्थापित किया जाता है, वे या तो विशुद्ध रूप से अनुमान पर आधारित हैं अथवा प्रचलित मान्यताओं, परम्पराओं एवं अनुश्रुतियों द्वारा अनुमोदित हैं। अतः इन भावभूमियों पर आधारित निष्कर्ष को सत्य रूप में स्वीकार करने में इतिहासकार की संशयात्मक बुद्धि का प्रधान होना स्वाभाविक है।

यहाँ की धार्मिक परम्परा के सम्बन्ध में प्रामाणिक कही जा सकने वाली सूचना प्रदान करने वाले साधनों के रूप में प्राप्त शिलालेखों, ताम्रपत्रलेखों एवं मुद्राओं का विशेष महत्व है। अभिलेखिक साक्ष्यों द्वारा यहाँ के प्राचीन स्मारकों एवं कलावशेषों की तिथि निर्धारण में सहायता मिलती है। इसमें सन्देह नहीं कि उपलब्ध सभी प्रकार के साक्ष्यों में अभिलेखिक एवं मुद्रा सम्बन्धी प्रमाण अपेक्षाकृत अधिक

विश्वसनीय हैं, किन्तु इनसे प्राप्त सूचनाएँ एकांगी होने से यहाँ की संस्कृति के सभी पक्षों पर सम्यक् रूप से प्रकाश डालने में ये विशेष सहायक नहीं हैं।

यहाँ के प्राचीन मन्दिर एवं मूर्तियाँ भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकला की अक्षय निधि हैं। इन कलावशेषों का विषयगत अध्ययन एक ओर जहाँ अभिलेखों द्वारा प्रदत्त सूचनाओं की सत्यता के मूल्यांकन में सहायक है, वहीं दूसरी ओर इनसे कई ऐसे तथ्य प्रकाश में आते हैं जिनके सम्बन्ध में इतर साधन सर्वथा मौन हैं। धार्मिक आस्था की इस पवित्र भूमि में पल्लवित विभिन्न सम्प्रदायों की ऐतिहासिकता का सम्यक् प्रकाशन इनके माध्यम से ही सम्भव हो सका है। इसके अतिरिक्त समाज की आर्थिक स्थिति, एवं साहित्य, कला तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों के सम्बन्ध में भी एक सीमा तक अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु संस्कृति के सर्वाङ्ग-पूर्ण स्वरूप के निरूपण में इनका उपयोग सहायक साधन के रूप में ही किया जा सकता है।

महानदी एवं पैरी नदी के पूर्वी तट से विपुल मात्रा में मृत्-पात्रों के अवशेष प्राप्त होते हैं। इनके अध्ययन-परीक्षण से यहाँ की विभिन्न संस्कृतियों के सम्बन्ध में प्रामाणिक स्वीकार की जा सकने वाली सूचना मिलती है। परन्तु नदियों की जमाव-कटाव प्रक्रिया के कारण ऊपरी सतह की इन प्राप्तियों से सर्वेक्षक के मस्तिष्क में अनेकानेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। इसके कारण वह किसी भी तथ्य-विशेष को पूर्ण दृढ़ता के साथ कह सकने का साहस नहीं कर पाता।

वर्तमान में सम्पूर्ण ग्राम तथा उसके सीमावर्ती क्षेत्रों में प्राचीन सभ्यता के अवशेषों को उदरस्थ किये छोटे-बड़े टीलों का व्यापक विस्तार है। राजिम की प्राचीन संस्कृति का प्रकाशन इन टीलों के उत्खनन की बाट जोह रहा है। जब तक यहाँ बृहत्-पैमाने पर उत्खनन का कार्य नहीं किया जायगा तब तक इससे सम्बन्धित विभिन्न संस्कृतियों का उद्घाटन, उनका अनुक्रम निर्धारण तथा संस्कृति विशेष से सम्बन्धित लोगों के सामाजिक संगठन, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, व्यवसाय आदि का निश्चयात्मक अध्ययन कर पाना नितान्त असम्भव है।

स्थान नाम और उसकी ऐतिहासिकता :

जनश्रुति से ज्ञात होता है कि राजिम नामक एक तेलिन के नाम पर इस स्थान का नाम पड़ा है। कहा जाता है कि एक समय जब वह तेल बेचने जा रही थी, तो राह में पड़े एक प्रस्तर खण्ड से ठोकर खाकर गिर पड़ी। परिणामस्वरूप उसके सिर पर रखी टोकरी गिर गयी और साथ ही उसमें रखे तेल पात्र के लुढ़क जाने से सारा तेल बहकर जमीन पर फैल गया। इस घटना को लेकर सास और पति द्वारा दी जाने वाली सम्भावित प्रताड़ना की कल्पनामात्र से उसका हृदय व्यथित हो उठा। जमीन पर लुढ़के तेल पात्र को उठाकर उसने उसी प्रस्तर खण्ड पर रख दिया और भगवान से रो-रोकर वह प्रार्थना करने लगी कि पति और सास द्वारा इस घटना के कारण दिये जाने वाले सम्भावित दण्ड से वे उसकी रक्षा करें। बहुत देर तक निरन्तर रोते रहने के बाद हृदय की व्यथा के कुछ कम होने पर बोझिल मन घर वापस जाने

के लिए रीते तेल के पात्र को जब वह उठाने लगी तो उसे यह देख हर्षमिश्रित आश्चर्य हुआ कि तेलपात्र मुख तक लबालब भरा हुआ है। इससे भी अधिक आश्चर्य उसे उस समय हुआ, जब वह दिन भर घूम-घूम कर ग्राहकों को तेल बेचती रही, पर उस पात्र का रीतना तो दूर रहा, बूँद मात्र भी कम नहीं हुआ। दिन भर तेल बेचकर सूर्यास्त के बाद जब वह घर पहुँची तो उसकी सास और उसके पति को यह देख आश्चर्य हुआ कि तेल पात्र के मुख तक भरे रहने के बाद भी अन्य दिनों की अपेक्षा कई गुना धन लेकर वह घर आयी है। सास और पति–दोनों के मन में यह शंका जगी कि हो न हो इसने तेल के बदले अपने सतीत्व का सौदा कर यह धन अर्जित किया है। पर राजिम के मुख से सारी घटना का विवरण सुन उन दोनों को बड़ा आश्चर्य हुआ। प्रदत्त विवरण की सत्यता जानने की जिज्ञासा से दूसरे दिन सास एक अन्य खाली पात्र लेकर उसके साथ गयी। निश्चित स्थान पर पहुँचने के पश्चात् उसने अपनी सास को वह प्रस्तर खण्ड दिखाया। सास ने अपने साथ लाये नये पात्र को उस पर रख दिया। पूर्व दिन की भाँति वह भी तेल से मुख पर्यन्त भर गया। इतना ही नहीं, अपितु दिन भर ग्राहकों को बेचते रहने के बाद भी उस पात्र का भी तेल पूर्व उदाहरण की ही भाँति एक बूंद मात्र नहीं रीता। संध्या घर आकर उसने उक्त घटना की सत्यता की सूचना अपने पुत्र को दी। उस रात तीनों ने यह निश्चय किया कि कल उस अक्षय फलदाता प्रस्तर खण्ड को उठाकर घर ले आना चाहिए। निर्णयानुसार दूसरे दिन उन लोगों ने जब उसे जमीन के बाहर निकाला, तो साधारण शिलाखण्ड के स्थान पर चतुर्भुज भगवान विष्णु का श्यामवर्ण श्री-विग्रह पाकर उनके आनन्द का ठिकाना न रहा। उस मूर्ति को घर लाकर वे श्रद्धापूर्वक नित्यप्रति उसकी पूजा करने लगे। इसी समय राजा जगतपाल को भगवान ने स्वप्न में यह आदेश दिया कि वह लोक-कल्याण के लिए एक मन्दिर बनवाये तथा उसमें उनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित करे। राजा ने आदेशानुसार मन्दिर तो बनवा लिया, परन्तु उसकी प्राण-प्रतिष्ठा के लिए सिद्धमूर्ति न प्राप्त कर सका। लोगों से राजिम तेलिन के जीवन में घटी घटना के बारे में सुनकर उसके मन में उक्त मूर्ति को नवनिर्मित मंदिर में प्रतिष्ठित करने का संकल्प जागृत हुआ। अतः वह राजिम तेलिन के पास गया और उससे उस मूर्ति की याचना की तथा बदले में मुंहमाँगा धन देने का वचन दिया। प्रलोभनवश राजिम ने समभारस्वर्ण के बदले उसे देना स्वीकार कर लिया। परन्तु जब वह मूर्ति तुला पर रखी गयी तो उसे यह देख आश्चर्य हुआ कि मानुषाकार प्रस्तर मूर्ति का भार तृणमात्र भी नहीं रहा है। अतः उसने प्रलोभन को त्याग दिया और राजा से यह वचन लेकर कि भगवान के नाम के आगे उसका नाम चलेगा, वह मूर्ति दे दी। उसी दिन से भगवान राजिमलोचन (राजीवलोचन) के नाम से पुकारे जाने लगे और उनका यह पवित्र धाम राजिम कहलाने लगा।

सामान्यतः विद्वानों ने इस जनश्रुति को पूर्ण ऐतिहासिक सत्य तो नहीं माना है पर इसमें सत्यांश की विद्यमानता की सम्भावना अवश्य स्वीकार की है। इस स्वीकृति के लिए दो तथ्य प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(अ) उक्त कहानी में उल्लिखित राजा जगतपाल को ऐतिहासिक पुरुष माना जा सकता है; और उसकी समता जगपाल देव नामक उस राजा के साथ स्थापित की जा सकती है जिसका शिलालेख राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप की पार्श्व भित्ति पर जड़ा हुआ है।

(आ) राजीवलोचन मन्दिर के सामने (राजेश्वर एवं दानेश्वर मन्दिरों के पीछे) जो तेलिन मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध देवगृह है, वह राजिम तेलिन सम्बन्धी अनुश्रुति की ऐतिहासिकता को सम्भावित सिद्ध करता है। इस मन्दिर के गर्भगृह में पूजार्थ एक शिलापट्ट ऊँची वेदी पर पृष्ठ भित्ति से सटाकर रखा हुआ है। इसके सम्मुख पटल के ऊपरी भाग पर खुली हथेली, सूर्य, चन्द्र एवं पूर्ण कुम्भ की आकृतियाँ रूपायित हैं। नीचे एक पुरुष और एक स्त्री की सम्मुखाभिमुख, पद्मासन में बैठी एवं हाथ जोड़ी प्रार्थना की मुद्रा में प्रतिमाएँ उत्खचित हैं। इनके दोनों पार्श्वों में क्रमशः एक-एक परिचारिका की मूर्ति है। शिला-पट्ट के मध्य भाग में जुए में जुते बैलयुक्त कोल्हू का रूपांकन है।

रायबहादुर हीरालाल ने जुते बैल से युक्त कोल्हू को राजिम तेलिन की वंश परम्परा से चले आने वाले व्यवसाय की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति बताया है।

यह शिलापट्ट सती-स्तम्भ है। इसे आधार मानकर रायबहादुर हीरालाल ने यह मत अभिव्यक्त किया है कि यदि राजिम तेलिन से सम्बन्धित अनुश्रुति के मूल में ऐतिहासिक सत्यांश है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह अपने आराध्य भगवान राजीवलोचन के सामने सती हुई थी।[1]

परन्तु इस जनश्रुति में ऐतिहासिक सत्यांश किस सीमा तक है, तथा उसे कहाँ तक विश्वसनीय स्वीकार किया जा सकता है, यह निर्णय कर पाना असम्भव है। उपर्युक्त सती स्तम्भ में स्थूल दृष्टि से विचार करने पर अज्ञान और माया के वशीभूत जीव की दशा का चित्रण कोल्हू एवं बैल को प्रतीक मान कर किया गया जान पड़ता है, तथा धर्माचरण से ही मोक्षपद प्राप्त हो सकता है—इस शाश्वत सन्देश को अभि-व्यक्त करने का उपक्रम इस पीठिका पर अंकित प्रतीत होता है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से जब हम इस प्रतीकांकन का अध्ययन करते हैं तो इसमें अत्यन्त गहन भावों एवं दार्शनिक तथ्यों को अभिव्यक्त पाते हैं। भारतीय प्रतीक विज्ञान में वृष का सम्बन्ध धर्म से स्थापित किया गया है।[2] निरुक्त (३।१।७) में ब्रह्म के यज्ञ पुरुष रूप (धर्म) की कल्पना वृषभ रूप में की गयी है। श्रीमद्भागवत में धर्म के वृष रूप का उल्लेख करते हुए तप, शौच, दया एवं सत्य को उसके चार पैर बताया गया है (स्कन्ध १, अध्याय १७, श्लोक संख्या २२ एवं २४)। स्कन्द पुराण में विष्णु के वृषभ रूप में अवतार लेने का वर्णन है। योगवासिष्ठ में ऊखल को काली की आकृति कहा गया है (उत्तरार्ध सर्ग ८४, श्लोक संख्या ३१)। काली-शिव शक्ति का नाम है। कोल्हू का

---

१. रायपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर-१९०९, पृ० ३३३.

२. टी० ए० गोपीनाथराव-एलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी जिल्द-पृ०२७८१.

अधो भाग ऊखल का ही भिन्न रूप है। शक्तितत्त्व के अनुरूप शिवतत्त्व की भी स्थाणु रूप में कल्पना की गयी है। महाभारत-अनुशासन पर्व (१५१, १०) में कूटस्थ लिंग को स्थाणु कहा गया है। कोल्हू का लाट भाग स्थाणु है। इस तरह सम्पूर्ण कोल्हू-लिंग और वेदी का एक स्वरूप होने से अर्धनारीश्वर (लिंगवेदी-समायोगादर्धनारीश्वरो भवेत्–लिंगपुराण–६६, ८) का प्रतीक है। यह अर्धनारीश्वर रूप शिवशक्ति सामरस्य का बोधक है, जो सृष्टि का मूल है (शिव-शक्ति समायोगाज्जायते सृष्टि कल्पना)। कोल्हू के वेदी-अंग को योनि भी कह सकते हैं। शास्त्रकारों ने योनि को प्रकृति तथा लिंग को पुरुष माना है (लिङ्गं पुरुष इत्युक्तो योनिस्तु प्रकृतिः स्मृता)। शिवपुराणान्तर्गत वायुसंहिता में भी शिव परमेशान को पुरुष एवं परमेश्वरी को प्रकृति कहा है (पुरुषः परमेशानः प्रकृतिः परमेश्वरी)। सांख्यमतानुसार जड़ प्रकृति में चेतन पुरुष के संसर्ग से उत्पन्न संक्षोभ सृष्टि का कारण है। कोल्हू के अधोभाग अर्थात् वेदी, योनि अथवा प्रकृति को ऊपर के लाट भाग अर्थात् स्थाणु, लिंग या पुरुष संसर्ग में स्थिर रखने तथा गति उत्पन्न करने वाला रज्जु कालसर्प का प्रतीक है (नागः कालः समाख्यातः संबन्धस्तु तयोः द्वयोः)। इस तरह कोल्हू-चराचर जगत का और उसमें जुता बैल धर्म का सूचक कहा जा सकता है तथा इस रूपांकन का तात्त्विक भाव–"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा" को अभिव्यक्त करना है।

अतः ऐसी स्थिति में कोल्हू एवं बैल को व्यवसाय का प्रतीक कहना युक्ति-संगत नहीं होगा। पुनश्च इस प्रकार का अन्य एक भी उदाहरण प्राप्त नहीं है, जिससे यह स्वीकार किया जा सके कि सती-स्तम्भों पर सती नारी के व्यवसाय आदि को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करने की परम्परा रही है।

राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप की पार्श्व भित्ति पर कलचुरी संवत् ८९६ (अर्थात् ११४५ ई० स०) का एक शिलालेख है, जिसे रतनपुर के कलचुरी नरेशों के अधीनस्थ सामन्त जगपालदेव ने उत्कीर्ण कराया है।[1] इस अभिलेख में जगपाल देव के वंश का नाम 'राजमाल' उल्लिखित है। ए० कनिंघम ने 'राजमाल' वंश नाम से ही 'राजम'–'राजिम' नाम की उत्पत्ति मानी है।[2] यद्यपि 'राजमाल' से 'राजिम' नामकरण का प्रचलन सम्भव प्रतीत होता है, परन्तु मात्र शब्द-साम्य के आधार पर इस अनुमान को अन्तिम सत्य नहीं माना जा सकता।

अधिकांश विद्वान 'राजिम' को 'राजीव' का विकृत रूप मानते हैं। इस संदर्भ में वे 'राजीवलोचन' से भगवान विष्णु के एक विरुद का आशय स्वीकार करते हैं। इसकी प्रामाणिकता के लिए वहाँ की प्रसिद्ध विष्णु प्रतिमा के प्रचलित नाम (भगवान राजिमलोचन) को साक्ष्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अतः देव नाम पर स्थान नाम की उत्पत्ति एवं प्रसिद्धि पूर्ण सम्भावित प्रतीत होती है।

एक दूसरी अनुश्रुति से इसके पद्मक्षेत्रान्तर्गत पद्मावतीपुरी नाम का ज्ञान

---

१. सी० आई० आई० जिल्द ४, क्रम संख्या ८८.

२. आर्के० सर्वे रिपोर्ट—जिल्द ७, पृष्ठ १५४.

होता है। 'राजिम माहात्म्य' नामक एक संस्कृत ग्रन्थ में इसे पद्मक्षेत्र कहा गया है। परन्तु यह यथेष्ट बाद की कृति है तथा इसमें वर्तमान ग्रांचलिक विश्वास एवं धार्मिक भावना के ग्रनुरूप विषय को प्रस्तुत करने का प्रयास है। ग्रतः ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में इसकी उपादेयता संदिग्ध हो जाती है। परन्तु इसके कृतिकार का महाभारत तथा पुराण ग्रादि का ग्रत्यन्त गहन ग्रध्ययन रहा है। फलतः उसने ग्रपनी कृति में उक्त ग्रन्थों के विविध उल्लेखों को ग्रपने ढंग से पूर्ण मौलिकता के साथ समाविष्ट कर लिया है।

एक ग्रन्य लोक-विश्वास से विदित होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान विष्णु के नाभि-कमल की एक पंखुड़ी (कुछ के ग्रनुसार केसर कण) पृथ्वी पर गिर पड़ी। इस कमलदल द्वारा ग्राच्छादित भूभाग कालान्तर में पद्मक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुग्रा। कुलेश्वर (उत्पलेश्वर लिंग–राजिम) को केन्द्र मानकर चम्पेश्वर, बावनेश्वर, फिंगेश्वर, कोपेश्वर तथा पटेश्वर—इन पाँच शिव लिंगों द्वारा ग्रावृत भूमिखण्ड पर्यन्त इसका विस्तार स्वीकार किया जाता है। छत्तीसगढ़ ग्रंचल में इस पद्मक्षेत्र की प्रदक्षिणा का विशेष धार्मिक महत्व है। इसे राजिम की पंचकोशी (पंचक्रोशी) यात्रा के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

इन ग्रनुश्रुतियों की ऐतिहासिकता संदिग्ध भले ही हो, पर इनके मूल में पौराणिक विचारों की छाया स्पष्ट देखी जा सकती है।

पुराणों में जगन्नाथपुरी को पुरुषोत्तम क्षेत्र में स्थित बताया गया है। स्कन्द पुराण में उल्लिखित विवरण से ज्ञात होता है कि पुरुषोत्तम क्षेत्र का विस्तार महानदी ग्रौर स्वर्णरेखा नदी के मध्यवर्ती भू-भाग पर्यन्त था, तथा ऋषिकुल्या नदी इसकी दक्षिणी सीमा थी।[1] शब्दकल्पद्रुम में महानदी को पुरुषोत्तम क्षेत्र के ग्रन्तर्गत बताया गया है।[2]

पुरुषोत्तम तत्त्व के ग्रनुसार महानदी का एक ग्रन्य नाम चित्रोत्पला है। इस ग्रन्थ में चित्रोत्पला का उद्गम विन्ध्यपाद से बताया गया है, तथा इसे समस्त पापों का हरण करने वाली एवं परमपुण्यदायिनी कहा गया है।[3] महानदी का यह नाम–महाभारत के भीष्मपर्व में तथा मत्स्य एवं ब्रह्म पुराण में भी उल्लिखित है।[4] ब्रह्म पुराण में एक स्थान पर इसे चित्रोत्पला कहा गया है।[5] वायुपुराण में चित्रोत्पला के

---

१. ऋषिकुल्यां समासाद्य दक्षिणोदधिगामिनीम्।
स्वर्ण रेखा महानद्योर्मध्ये देशःप्रतिष्ठितः।
स्कन्द पुराण, वैष्णव खण्ड; पुरुषोत्तम क्षेत्र माहात्म्य, अध्याय ६, श्लोक २७.

२. शब्दकल्पद्रुम तृतीय भाग, पृष्ठ ६६०.

३. नदी तत्र महापुण्या विन्ध्यपाद विनिर्गता।
चित्रोत्पलेति विख्याता सर्वपापहरा शुभा॥

४. महा० भीष्मपर्व ९।३४; मत्स्य० ११४।२५; ब्रह्म० २७।३१।३२.

५. ब्रह्म० ४६।४-५.

स्थान पर नीलोत्पला पाठान्तर मिलता है ।[१]

डा० सरकार ने समस्त पौराणिक साक्ष्यों के परीक्षणोपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है कि महानदी का चित्रोत्पला नाम, उसके पैरी नदी से संगम के बाद से प्रारम्भ होता है।[२] दूसरे शब्दों में राजिम से महानदी चित्रोत्पला नाम से जानी जाती है ।

चित्रोत्पला में दो शब्दों का युग्म है : प्रथम–उत्पल एवं द्वितीय–चित्रा । उत्पल का शाब्दिक अर्थ है—नीलकमल । चित्रा—गायत्री स्वरूपा महाशक्ति का एक नाम है ।[३] वह परम ऐश्वर्य की महादेवी (महालक्ष्मी) है । इस तरह पैरी से संगम के बाद ही महानदी का चित्रोत्पला नाम तथा पैरी-महानदी-संगम का महाभारत की रचना काल के समय से एक प्रमुख वैष्णव पीठ होना सिद्ध है । इस तथ्य की पुष्टि राजिम-कुलेश्वर मन्दिर अभिलेख से भी हो जाती है । कुलेश्वर मन्दिर के महामण्डप में ९वीं शताब्दी का एक अभिलेख है, जिसकी पाँचवीं पंक्ति में पैरी और महानदी के संगम स्थल को—'श्री संगम' कहा गया है ।[४] 'श्री' विष्णु की शक्ति लक्ष्मी का नाम है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान राजिम को पद्म क्षेत्र अथवा कमल क्षेत्र कहना, यहाँ के प्रमुख देवता का राजीवलोचन (नीलकमल दल के समान नेत्र वाले—अर्थात् विष्णु) नामाभिधान तथा राजिम के धार्मिक महत्व का जगन्नाथपुरी से सम्बन्ध स्थापित किया जाना, आदि ऐसे तथ्य हैं, जिन्हें परम्पराओं द्वारा पोषित ऐतिहासिक सत्य के रूप में सहजभावेन स्वीकार किया जा सकता है ।

महाभारत तथा पुराणों में महानदी की सहायक तेल नदी को उत्पला या उत्पलावती कहा गया है । इसे आधार मान कर अमरनाथ दास, तथा कुछ अन्य विद्वानों ने यह मत अभिव्यक्त किया है कि तेल नदी (प्राचीन उत्पला या उत्पलावती) के संगम के कारण ही महानदी का नाम चित्रोत्पला पड़ा ।[५] परन्तु यदि हम इसे सत्य मान लेते हैं तो वायु पुराण में महानदी के लिए चित्रोत्पला के स्थान पर नीलोत्पला नाम के प्रयोग को स्पष्ट करना असम्भव हो जाता है । इसके अतिरिक्त, हमें ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें किसी प्रमुख नदी का नाम उसकी किसी सहायक नदी के नाम पर पड़ा हो । ऐसी स्थिति में इस धारणा की सत्यता संदिग्ध हो जाती है । परन्तु यदि इस विचार को सत्य मान लें, तब भी हमारी पूर्वोक्त धारणा में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि इस वर्ग के समस्त विद्वान् राजिम से लेकर सोनपुर (महा-

---

१. वायु० ४५।१००.

२. इण्डि० हिस्ट० क्वार्ट भाग २७, खण्ड ३ वर्ष १९५१ पृ. २२२.

३. देवीभाग. १२।६।५२.

४. हीरालाल–डिस्क्रीप्टिव लिस्ट आफ इन्स. इन. सी. पी. एण्ड बरार (प्रथम संस्करण) क्रम संख्या १३६, पृ. १०४.

५. इण्डिया एण्ड जम्बू आइलैण्ड पृ. १८, कलिंग हिस्ट, रिसर्च इन्स्टीट्यूट जर्नल भाग ३ पृ. २३५.

नदी और तेल नदी का संगम-स्थल) तक महानदी का चित्रोत्पला कहा जाना स्वीकार करते हैं।[1] इस धारणा का एकमात्र आधार महाभारत के भीष्मपर्व में आया उल्लेख है, जिसमें उत्पलेश तथा चित्रामाहेश्वरी से चित्रोत्पला नाम की उत्पत्ति बतायी गयी है।[2] इस उल्लेख को साक्ष्य रूप में प्रस्तुत करते हुए विद्वानों ने उत्पलेश को राजिम में स्थित शिव (कुलेश्वर महादेव से समता स्थापित की गयी है) तथा चित्रा माहेश्वरी को सोनपुर के एक प्राचीन मन्दिर में प्रतिष्ठित देवी माना है। परन्तु सोनपुर के जिस मन्दिर एवं उसमें प्रतिष्ठित देवी प्रतिमा से यह संगति बैठाने की चेष्टा की गयी है, वह ११ वीं शताब्दी की है। अतः महाभारत से प्राप्त प्रमाण की व्याख्या करने में उक्त समीकरण किस सीमा तक सहायक हो सकता है-निश्चय कर सकना अत्यन्त दुष्कर है। वस्तुतः महाभारत के इस श्लोक में उत्पलेश (शिव) एवं चित्रामाहेश्वरी का युगल विग्रह निर्देशित जान पड़ता है। अतः उत्पलेश शिव एवं चित्रा माहेश्वरी-दोनों को एक स्थान पर प्रतिष्ठित मानना चाहिए। पुनश्च, सुवर्णपुर (वर्तमान सोनपुर) के संस्थापक सोमवंशी नरेशों के लेखों में तेल नदी के लिए 'तेला'[3] नाम का प्रयोग मिलता है, जबकि सोमेश्वर देव के महदा ताम्रपत्र में महानदी को चित्रोत्पला नाम से सम्बोधित किया गया है।[4]

उपर्युक्त दोनों तथ्यों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विशेष धार्मिक महत्ता प्राप्त रहने के कारण महानदी से सम्बद्ध परम्पराओं में ऐतिहासिक सत्य मान्यताएँ किसी न किसी रूप में समाविष्ट होती रही हैं और इस तरह प्राचीन गौरव के अनुरूप उसके महत्व को शाश्वत बनाये रखने का सफल उपक्रम किया जाता रहा है। अतः राजिम में ही उत्पलेश शिव एवं चित्रा माहेश्वरी के युगल विग्रह का प्रतिष्ठित होना असम्भावित नहीं कहा जा सकता।

महाभारत में हमें महानन्दा नामक एक नदी का उल्लेख मिलता है।[5] विद्वानों ने इसे बंगाल के उत्तर-पूर्व में दार्जिलिंग के पास हिमालय से निकलकर मालदा जिले में गंगा से मिलने वाली नदी बताया है।[6] परन्तु महाभारत के ही साक्ष्य से यह दक्षिणापथ की नदी जान पड़ती है। शब्द-कल्पद्रुम[7] में भी इसे दक्षिण देश की नदी

---

१. इण्डिया एण्ड जम्बू आइलैण्ड पृ. १८, कलिंग हिस्ट, रिसर्च इन्स्टीट्यूट जर्नल भाग ३ पृ. २३५.

२. उत्पलेशं समासाद्य यावच्चित्रामहेश्वरी।
चित्रोत्पलेति कथिता सर्वपापप्रणाशिनी॥
महा. भीष्म पर्व-९।३५ (कलिंग हिस्ट. रिसर्च इन्टीट्यूट जर्नल भाग ३, पृ. २३५ में उद्धृत)

३. महाशिवगुप्त ययाति का मरँजमुरा ताम्रपत्र-जे. बी. ओ. आर. एस. भाग २ पृ. ४५-५९.

४. सोमेश्वर देव का महदा ताम्रपत्र-एपी. इण्डिका भाग २८ नं. ४५.

५. महाभारत—१३।२५।४३.

६. इम्पीरियल गजेटियर, जिल्द २०, पृ. ४१३-४१४.

७. शब्दकल्पद्रुम भाग ३, पृ. ६६०.

कहा गया है। बहुत सम्भव है कि महानन्दा, महानदी का पाठान्तर हो। शब्दकल्पद्रुम में इसके उद्‌गम स्थान का नाम पद्‌मा कहा गया है, तथा इसे रामपुर ग्राम के पश्चिम दिशा से होती हुई उत्तर दिशा की ओर प्रवहमान बताया गया है।[1] रामपुर नामक ग्राम का इस प्रकार विशेष उल्लेख किया जाना उसकी महत्ता का परिचायक है। महानदी के उद्‌गम स्थान के बाद ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से राजिम ही सर्वप्रथम उल्लेखनीय स्थान है। अतः बहुत सम्भव है कि इसका ही प्राचीन नाम रामपुर रहा हो। महानदी के प्रवाह की दिशा का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यह अपने उद्‌गम से लेकर शिवनाथ नदी के संगम-स्थल तक, उत्तर दिशा की ओर बहती है, पश्चात् इसका प्रवाह पूर्व दिशा की ओर हो जाता है। यदि रामपुर का समीकरण राजिम से स्वीकार कर लिया जाता है तो महानदी उसके पश्चिम में ठहरती है और इसका प्रवाह भी दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर है। इस तरह शब्द-कल्पद्रुम में निर्देशित दोनों बातें पूरी हो जाती हैं। जगपालदेव के अभिलेख में उसके द्वारा राजिम में बनवाये गये मन्दिर का तथा इसे राम को समर्पित करने का उल्लेख है। यह अभिलेखिक विवरण प्रमाणित करता है कि १२वीं शताब्दी में वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत रामोपासना का यह महत्वपूर्ण केन्द्र था। अतः इसकी रामपुर नाम की सम्भावना संगतियुक्त कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त रामपुर नाम की स्वीकृति से राजिम का वैष्णव पीठ होना भी सिद्ध हो जाता है, साथ ही नीलाम्बुज के समान अंग वाले राम के सान्निध्य से स्वयं महानदी नीलोत्पला हो जाती है। पद्‌मा से निकलने के कारण उसके तटीय प्रदेश का पद्‌मक्षेत्र कहलाना भी स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है। पैरी से उसके पवित्र संगम का 'श्री-संगम' नामाभिधान वैष्णव प्रभाव की देन जान पड़ता है, तथा इस भूमि में आकर हरिहर शिव भी उत्पलेश कहलाने लगते हैं,[2] और उनकी शक्ति चित्रा माहेश्वरी उत्पलाक्षी रूप में प्रकट होती है। समस्त लक्षणों से युक्त चतुर्भुज विष्णु का श्रीविग्रह राजिमलोचन (राजीवलोचन) कहलाने लगता है। यहाँ शिव विष्णु के समान ही समादृत हैं, मानों यह स्थान वैष्णवों और शैवों के पारस्परिक मतभेदों को समाप्त कर इसके पुरुषोत्तम क्षेत्रान्तर्गत पद्मक्षेत्र होने की ऐतिहासिकता को प्रमाणित कर रहा हो।[3] परन्तु शब्द-कल्पद्रुम के रचयिता के ज्ञान का क्या स्रोत रहा है, तथा उसके द्वारा किया गया

---

१. सा पद्‌माया विनिःसृता रामपुराख्यग्रामात् पश्चिमत उत्तर दिग्गता ॥ शब्दकल्पद्रुम-भाग ३, पृ. ६६०

२. पौराणिक मान्यतानुसार महाशिवरात्रि के दिन शिवजी की पूजा उनके विशुद्ध शिवत्व रूप में न की जाकर हरिहर (हरि+हर) रूप में की जाती है। राजिम के कुलेश्वर महादेव का वास्तविक नाम उत्पलेश है, जो उनके हरिहर रूप की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इसमें लिंगम् शिव का प्रतीक है, परन्तु नाम का सम्बन्ध विष्णु से है।

३. ब्रह्मपुराण में उल्लिखित है कि पुरुषोत्तम क्षेत्र में शैवों और वैष्णवों के परस्पर भेद समाप्त होकर समन्वित हो जाते हैं (शैवभागवतानां च वादार्थप्रतिषेधकम्, ५६।६०-६६) डा. काणे द्वारा धर्मशास्त्र का इतिहास भाग ३, पृ. १३८२ की पादटिप्पणी २४ में उद्धृत।

विवरण किस सीमा तक ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनका निश्चित उत्तर दे पाना भावी अनुसंधान का विषय है।

अभी हाल ही में रायपुर से एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिससे इस स्थान के इतिहास पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। इस लेख में तिथि उत्कीर्ण नहीं है, परन्तु लिपि के आधार पर बालचन्द जैन ने इसे १४ वीं-१५ वीं शताब्दी का माना है। इस अभिलेख में महाराज (महाराज नामक एक व्यक्ति) द्वारा राजीवनयन में एक जगन्नाथ मंदिर और एक सुदृढ़ शम्भु मन्दिर के निर्माण कराने का उल्लेख है।[1] इसमें आये राजीवनयन स्थान नाम की समता निःसंदेह वर्तमान राजिम से की जा सकती है। अतः इस प्राप्ति के आधार पर अब यह कह सकना असम्भव नहीं रह जाता कि कम से कम ईसा की चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी से राजिम का राजीवनयन नाम प्रचलित हो गया था। बहुत सम्भव है कि इसके प्राचीन नाम रामपुर तथा पुरुषोत्तम क्षेत्रान्तर्गत पद्मक्षेत्र के रूप में इसकी प्रसिद्धि को ध्यान में रखते हुए कालान्तर में लोगों ने दोनों को समन्वित कर राजीवनयन (अर्थात् कमल के समान नेत्र वाले भगवान राम की नगरी) नाम दे दिया हो। अतएव अब यह स्वीकार करने में सन्देह नहीं रह जाता कि प्राचीन राजीवनयन नाम का ही परिवर्तित रूप वर्तमान राजिम है।

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :

किसी भी स्थान के विकास के लिए भौतिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण की अनुकूलता आवश्यक होती है। प्राचीन काल में राजिम की गौरवशाली स्थिति के निर्माण तथा महत्ता के प्रतिपादन में भौतिक-संस्कृति की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक तत्त्वों का सहयोग अपेक्षित परिमाण में उपलब्ध हो रहा है।

राजिम के विकास में भौतिक पर्यावरण के प्रभाव पर जब हम विचार करते हैं तो स्पष्ट भासित होता है कि इसकी उन्नति तथा गौरव-प्रतिष्ठा में महानदी के साहचर्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सभ्यता के अभ्युत्थान की आदिम अवस्था से ही प्राचीन दक्षिण कोशल के जनजीवन से सतत समरसता बनाये रखने में इसकी सफलता का प्रधान आधार महानदी और उसकी सहायक नदियों द्वारा स्थापित सम्पर्क रहा है। इस नदी के तटीय मार्ग द्वारा ही मेचका–सिहावा (सिहावा), काकरय (काँकेर) तथा भ्रमरकोट्य (बस्तर) होते हुए दक्षिण भारत के प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्रों के साथ इसका निरन्तर सम्पर्क बना रहा है।[2] प्राचीन दक्षिण कोशल का

---

१. यह शिलालेख रायपुर के नन्दकुमार दानी के यहाँ प्राप्त हुआ है। बालचन्द जैन ने इसे पढ़ा है और इसका संक्षिप्त प्रकाशन रायपुर से प्रकाशित होने वाली साप्ताहिक पत्रिका राष्ट्रबन्धु के दीपावली विशेषांक में किया है।

२. इन स्थानों का नामोल्लेख जगपाल के कलचुरी संवत् ८९६ (११४५ ई. स.) के राजीवलोचन मन्दिर-अभिलेख में प्राप्त होता है। प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित विवरण से ज्ञात होता है

(शेष अगले पृष्ठ पर)

कलिंग तथा ओड़ के साथ युग-युगान्तर से चले आ रहे सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थापना एवं विकास में सम्पर्कसूत्र के रूप में महानदी की प्रमुख भूमिका रही है। इस नदी के साहचर्य से ही जगन्नाथपुरी से सम्बन्धित धार्मिक भावनाओं, विश्वासों आदि की गहरी छाया यहाँ की धार्मिक मान्यताओं पर पड़ी है।[1] वर्तमान में महानदी का वह भाग, जो छत्तीसगढ़ की सीमा के अन्तर्गत आता है, अधिकांश समय तक सूखा रहता है। परन्तु पहले स्थिति ऐसी नहीं थी।

ब्रह्मपुराण के साक्ष्य का परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि महानदी में उसके उद्गम स्थान तक नाव चला करती थी। इसमें वर्णित है कि जब राजा इन्द्रद्युम्न के मन में जगन्नाथ मन्दिर के निर्माण करने की इच्छा जागृत हुई तो उसने विन्ध्यपाद से मन्दिर निर्माण के लिए प्रस्तर खण्ड तुड़वाया। पश्चात् उनको गाड़ियों में भर कर चित्रोत्पला के तट तक लाया गया, जहाँ से उन्हें नावों के द्वारा पुरी ले जाया गया।[2] महानदी का विन्ध्यपाद से निकलना अन्य साक्ष्यों से सिद्ध है। डा० सरकार ने वर्तमान सिहावा-पर्वत श्रेणियों को विन्ध्य की मेकल श्रेणी की शाखा बताया है।[3] राजिम के चारों ओर पैरी नदी का कछारी भाग है, जहाँ की जमीन कृषि की दृष्टि से अत्यन्त उपजाऊ है। कृषि-सभ्यता के आदिम युग से ही भारत की आर्थिक सम्पन्नता का प्रमुख आधार रही है। अतः राजिम के उत्कर्ष के लिए जिस आर्थिक सम्पन्नता की आवश्यकता थी, वह उसे प्राप्त थी।

ब्रह्मपुराण में आये उपर्युक्त उल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि

कि गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिणापथ की विजय यात्रा में सर्वप्रथम कोशल (दक्षिण कोशल) और महाकान्तार (बस्तर तथा उसके समीपवर्ती प्रदेश) को विजित किया। पश्चात् केरल आदि अन्य राज्यों पर विजय प्राप्त की। यह सर्वमान्य है कि प्रयाग-प्रशस्ति में दक्षिणापथ के राज्यों का उल्लेख उनके भौगोलिक स्थिति-क्रम पर आधारित है। बहुत सम्भव है कि समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिणापथ विजय के लिए जिस मार्ग का अनुसरण किया था, वह उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत के मध्य सामान्य आवागमन के लिए भी प्रयुक्त होता रहा हो। इस अनुमान की पुष्टि विभिन्न राजवंशों के नरेशों द्वारा समय-समय पर अपनी उत्तर से दक्षिण अथवा दक्षिण से उत्तर की विजय यात्रा के मार्ग में कान्तार अथवा महा-कान्तार या भ्रमरकोट्य अथवा चक्रकोट्य को विजित करने की घटना से हो जाती है। दक्षिण कोशल को उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत से जोड़ने वाला मार्ग महानदी के तट से होकर जाता था। इस तथ्य की पुष्टि वल्लभाचार्य के जन्म स्थान (चांपाझर-चम्पेश्वर) की स्थिति तथा उनके जन्म से सम्बन्धित कथा द्वारा होती है।

१. जगन्नाथपुरी के समान यहाँ भी सभी वर्णों को दर्शन करने तथा प्रसाद प्राप्त करने का समान अधिकार है। लोगों का कहना है कि यहाँ भी प्रारम्भ में चावल के भात (महाप्रसाद) का भोग लगता था। आज भी यहाँ चावल-जैसे बने एक विशिष्ट पकवान का जिसे पीड़िया कहते हैं, भोग लगता है। पुरी के ही समान राजिम की भी पंचक्रोशी यात्रा की परम्परा है।

२. ब्रह्मपुराण, वैष्णव खण्ड, ४७।८-९.

३. इण्डियन हिस्ट० क्वार्ट०, भाग २७, खण्ड ३, पृ. २२२.

इस नदी के जलीय मार्ग का व्यापारिक महत्व भी रहा होगा। प्राचीन दक्षिण कोशल का कलिंग एवं ओड्र से व्यापारिक सम्बन्धों के निर्माण तथा अभिवृद्धि में इससे सहायता मिली होगी। इसमें संशय नहीं कि इस जलीय मार्ग में पत्तन के रूप में राजिम की विशेष ख्याति रही होगी।[1]

प्राचीन दक्षिण कोशल की आर्थिक उन्नति में यहाँ के वनोपज और खान का भी विशेष योग रहा होगा। वराहमिहिर की वृहत्संहिता से ज्ञात होता है कि कोशल में शिरीष के फूल के रंग वाला हीरा मिलता था।[2] महानदी के रेत में आज भी स्वर्ण पाया जाता है।

प्राचीन समय में राजिम के उत्कर्ष के लिए राजनीतिक एवं सांस्कृतिक वातावरण की अनुकूलता सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही है।

महाभारत के भीष्मपर्व में कहा गया है कि चित्रोत्पला का जल भारतीय प्रजा पीती है।[3] इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रोत्पला अर्थात् महानदी के तटीय प्रदेशों पर आर्य जन बसते थे। यदि इस कथन का सूक्ष्म विश्लेषण करें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत काल तक दक्षिण कोशल में आर्य जनों की बस्तियाँ प्राय: चित्रोत्पला अर्थात् महानदी के तट पर बसी थीं। अत: ऐसी स्थिति में यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इस नदी के तट पर ही उनके प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र रहे होंगे। इस दृष्टि से राजिम का नाम अग्रगण्य है। क्षेत्रीय लोगों का विश्वास है कि कलिंग तथा ओड्र के साथ युग-युगान्तर से चले आ रहे सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थापना एवं विकास में सम्पर्क सूत्र के रूप में महानदी की प्रमुख भूमिका रही है। महानदी और पैरी नदी के संगम पर लोमश ऋषि का आश्रम था। इस विश्वास की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने वाले साक्ष्यों का यद्यपि एकान्तिक अभाव है पर इससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि राजिम में ऋषियों के आश्रम रहे होंगे। रामायण के साक्ष्य से यह प्रमाणित है कि दण्डकारण्य में अनेक ऋषियों ने अपना आश्रम स्थापित किया था। अत: राजिम-संगम के धार्मिक महत्व को देखते हुए पूर्वोक्त अनुमान पूर्ण सम्भावित प्रतीत होता है।

यह ऐतिहासिक सत्य तथ्य है कि दक्षिणापथ के आर्यीकरण के साथ ही साथ यहाँ आर्यों का राजनीतिक प्रभुत्व भी स्थापित होता गया। प्राचीन दक्षिण कोशल

---

१. राजिम में महानदी के तट पर हमें प्राचीन मृत्पात्रों के अवशेष बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। जिस मात्रा में तथा जिस विस्तृत क्षेत्र में ये प्राप्त होते हैं, वहाँ उसकी तुलना में प्राचीन भवन आदि के अवशेष के चिह्न बहुत ही कम दिखाई पड़ते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ये मृत्पात्र सामान्यत: उन लोगों के द्वारा प्रयोग में लाये गये हैं, जो अत्यन्त अस्थायी रूप से यहाँ पर ठहरते होंगे। ऐसे लोगों में मुख्यत: दो प्रकार के लोग रहे होंगे—प्रथम, व्यापारी एवं द्वितीय, तीर्थ यात्री। तट से अन्न रखने के विशाल पात्र तथा प्यालीनुमा भाण्ड बड़ी संख्या में मिलते हैं।

२. शिरीषकुसुमोपमम् च कोशलकम्॥ वृहत्संहिता ८।०६.

३. महाभारत, भीष्मपर्व ९।३४.

पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने वाले प्रथम क्षेत्रीय राजा इक्ष्वाकुवंशी दण्डक थे, जिनके नाम पर यह क्षेत्र दण्डकारण्य कहलाया। दण्डक की राजधानी मृतकावती थी। लेखक का अनुमान है कि इस मृतकावती की पहचान जगपालदेव के राजीवलोचन मन्दिर-अभिलेख में उल्लिखित मेचका-सिहावा (धमतरी तहसील का मेचका और सिहावा) से की जा सकती है। सिहावा महानदी का उद्गम स्थान है। अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि राजिम को इस समय से ही महत्व प्राप्त हो गया होगा। दण्डक की कथा से ज्ञात होता है कि ऋषि भृगु ने दण्डक को शाप देने के पश्चात् अन्य ऋषिमुनियों से उस स्थान को त्याग देने के लिए कहा। ऐसा अनुमान है कि भृगु कोशल को छोड़ने के उपरान्त विदर्भ में जाकर रहने लगे। डा० कनिंघम का कहना है कि विदर्भ से जो मार्ग कोशल की ओर आता था वह भांदक से देवटेक, बंजारी, अम्बागढ़चौकी, बालोद, सोरर और गुरूर तक आने के बाद दो भागों में विभक्त हो जाता था। एक गुरूर से सिहावा, काँकेर होते गंजाम की ओर चला जाता थ। तथा दूसरा राजिम, शिवरीनारायण होते कटक चला जाता था।[1] इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि राजिम का प्राचीन समय से ही विदर्भ और कटक के साथ सांस्कृतिक सम्पर्क था।

नैषध के राजा नल के समकालीन दक्षिण कोशल के नरेश ऋतुपर्ण थे। महाभारत में आये उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय कोशल और विदर्भ दोनों नैषध से अलग-अलग स्थल-मार्गों द्वारा सम्बद्ध थे।[2] महाभारत के नलोपाख्यान से यह भी ज्ञात होता है कि कोशल को विदर्भ से जोड़ने वाला एक अलग स्थलमार्ग भी था।

महाभारत में चित्रोत्पला को जो सांस्कृतिक महत्व प्रदान किया गया है, उस पर ध्यान देने से यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसके तट पर बसे राजनीतिक एवं सांस्कृतिक महत्व के स्थान इन मार्गों से अवश्य ही सम्बद्ध रहे होंगे। इस दृष्टि से राजिम का नाम विशेष उल्लेखनीय माना जा सकता है।

महाभारत के आरण्यक पर्व में कोशल के तीन प्रमुख तीर्थों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। उनके नाम हैं—ऋषभ तीर्थ, काल तीर्थ एवं बदरी तीर्थ। ऋषभ तीर्थ की समता प्रथम शताब्दी ई०स० के एक अभिलेख के आधार पर वर्तमान शक्ति से १३ वें मील पर स्थित गुंजी नामक स्थान से की गयी है।[3] काल तीर्थ और बदरी तीर्थ की सही पहचान अभी तक नहीं की जा सकी है। लेखक की व्यक्तिगत धारणा है कि महाभारत में उल्लिखित बदरी तीर्थ की समता वर्तमान राजिम से करना सर्वाधिक युक्तिसंगत होगा। यह धारणा विशुद्ध कल्पना प्रसूत न होकर कतिपय प्रमाणों द्वारा निर्देशित होने से ग्राह्य प्रतीत होती है। इसे बदरी तीर्थ मानने के पक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं—

---

१. आर्क० सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू सीरीज भाग १९, पृ० ५२.

२. महाभारत : नलोपख्यान : २२.

३. इपि० इण्डिया, भाग २७, पृ० ४७-५०.

(अ) प्राचीन दक्षिण कोशल के अन्तर्गत राजिम ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैष्णव पीठ रहा है। बदरी तीर्थ नामाभिधान इसके धार्मिक महत्व में विष्णु के नारायण रूप की लोकप्रियता प्रमाणित करता है। राजिम का प्रमुख मन्दिर मूलतः भगवान विष्णु को समर्पित है तथा इस मन्दिर से सम्बद्ध एक लघु देवलिका का सम्बन्ध बद्रीनारायण (बदरी वन में नारायण रूप में तपश्चर्या करने से विष्णु का नाम बद्रीनारायण पड़ा) से है। सम्पूर्ण छत्तीसगढ़ में राजिम ही एकमात्र ऐसा स्थान है जहाँ बद्रीनारायण का प्राचीन मन्दिर है, जिसमें नारायण की तपस्यालीन मूर्ति स्थापित है। सम्भव है कि इस मन्दिर का तथा इसमें प्रस्थापित मूर्ति विशेष का निर्माण प्रचलित परम्पराजन्य आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से किया गया हो।

(आ) वराहपुराण में विष्णु के वराहावतार से सम्बन्धित तीन प्रमुख स्थान बताये गये हैं—(१) कोकामुख (२) बदरी एवं (३) लोहार्गल।[1] राजिम से प्राप्त वाराह मूर्तियों का अन्य देव प्रतिमाओं के साथ यदि अनुपातिक अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि यहाँ प्राचीन काल में वराहावतार के रूप में विष्णु की उपासना अत्यन्त लोकप्रिय रही है। इसमें सन्देह नहीं कि इस लोकप्रियता के मूल में किसी न किसी प्रकार का परम्परागत विश्वास ही आधार रूप में रहा है। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि छत्तीसगढ़ में राजिम ही एक ऐसा स्थान है जहाँ से वाराह की स्वतंत्र मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ऐसी स्थिति में बहुत सम्भव है कि वराहावतार तथा बदरी तीर्थ की यह परस्पर सम्बद्धता ही उपर्युक्त परम्परागत विश्वास का कारण रही हो। यहाँ वाराह का स्वतंत्र मंदिर है, जिसमें प्रतिष्ठित प्रतिमा को उसके लक्षणों के आधार पर श्री शिवराम मूर्ति[2] ने प्राप्त वाराह प्रतिमाओं में प्रारम्भिक वर्ग का माना है। इस तरह वाराह रूप में विष्णु की सगुणोपासना का यह प्रमुख पीठ माना जा सकता है। अतः वराह पुराण के बदरी तीर्थ तथा महाभारत में उल्लिखित कोशल के बदरी तीर्थ को एक मानना अनुचित न होगा।

इस तरह उपलब्ध समस्त प्रमाणों की समीक्षा करते हुए यह स्वीकार किया जा सकता है कि महाभारत में उल्लिखित बदरी तीर्थ से तात्पर्य राजिम का है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन दक्षिण कोशल के इतिहास में महाजनपद युग के प्रारम्भ से पूर्व ही राजिम का धार्मिक महत्व पूर्णतया स्थापित हो चुका था, एवं तदनुरूप उसके सांस्कृतिक गौरव की भी शाश्वत प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

प्राचीन दक्षिण कोशल के राजनीतिक इतिहास को अलंकृत करने वाले जिन विभिन्न राजवंशों का इतिहास ज्ञात है उनके अभिलेखों अथवा ताम्रपत्रों में राजिम का नामोल्लेख नहीं मिलता। यह एक ऐसा तथ्य है, जो प्रमाणित करता है कि इस स्थान को राजनीतिक दृष्टि से कभी भी विशेष महत्व नहीं प्राप्त रहा।

---

१. वराह पु० १४०।४-५.

२. एंशियेण्ट इण्डिया भाग ६, १९५०, पृ० ४२.

परन्तु राजिम तथा इसके आसपास के क्षेत्र से प्राप्त पुरातात्त्विक महत्त्व की सामग्रियों के अध्ययन से इसके अलग-अलग ऐतिहासिक युग के सांस्कृतिक स्वरूप पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस विषय पर विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में की गयी है। यहाँ प्रसंगवश इसका संक्षिप्त उल्लेख मात्र यथेष्ट होगा।

हमें उपलब्ध साक्ष्यों द्वारा राजिम के गुप्तकाल से पूर्व के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। ऊपरी धरातल से जो मृत्-पात्रों के अवशेष प्राप्त होते हैं, उनसे इस अंधकार युग की संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं, परन्तु वर्तमान स्थिति में इनके आधार पर कोई निश्चित निष्कर्ष निकाल पाना सम्भव नहीं है।

राजिम से लगे हुए पितई-बंद नामक ग्राम से महेन्द्रादित्य और क्रमादित्य के स्वर्ण-सिक्के प्राप्त हुए हैं। इन राजाओं की पहिचान दक्षिण कोशल के राजनीतिक इतिहास की अनेक उलझी हुई समस्याओं में से एक है। यहाँ यह कह देना यथेष्ट है कि लेखक इन स्वर्ण-सिक्कों के महेन्द्रादित्य को गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त का समकालीन मानता है। अतः इन प्राप्तियों से यह अनुमान किया जा सकता है कि राजिम के विकास में इन राजाओं का विशेष योगदान रहा होगा। इन सिक्कों पर गरुड़ की आकृति है, जिससे इन्हें प्रचलित करने वाले शासकों का वैष्णव धर्मावलम्बी होना सिद्ध है। अतः इनके द्वारा राजिम के विकास के लिए विशेष प्रयास किया जाना सम्भावित प्रतीत होता है।

दक्षिण कोशल पर शासन करने वाले शरभपुरीय शासक परम वैष्णव थे। अतएव उनके राजत्वकाल में वैष्णव तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध राजिम का सर्वाङ्गीण विकास होना स्वाभाविक जान पड़ता है। परन्तु इसकी सत्यता उत्खनन के बाद ही प्रमाणित की जा सकती है। यहाँ यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि डा० एम० जी० दीक्षित ने राजिम से प्राप्त श्रेष्ठतम वैष्णव प्रतिमाओं-नारायण तपश्चर्या मूर्ति, वामन मूर्ति, त्रिविक्रम मूर्ति, नृसिंह मूर्ति को शरभपुर राजवंश के समय की बनी हुई माना है।[१]

शरभपुरियों के पश्चात् सोमवंशी शासकों ने दक्षिण कोशल पर राज्य किया। इस राजवंश को पाण्डु वंश या पाण्डव वंश के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इनके राजत्वकाल के जो शिलालेख, ताम्रपत्र शासन तथा अन्य सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं, उनसे विदित होता है कि यह वंश अपनी उदारता, धार्मिक सहिष्णुता, विद्यानुराग कला-प्रेम एवं निर्माण कार्यों के लिए प्रसिद्ध रहा है। इनके शासन काल में दक्षिण कोशल की बहुमुखी उन्नति हुई। यही कारण है कि सहृदय समीक्षक इस काल को दक्षिण कोशल के इतिहास का स्वर्णयुग मानते हैं। इनकी राजधानी श्रीपुर (वर्तमान सिरपुर) थी, तथा इस समय का एक अन्य प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र मल्लार था। इन

---

१. मुखलिंगम, सिरपुर एण्ड राजिम टेम्पल्स : भूलाभाई मेमोरियल इन्स्टीट्यूट बाम्बे द्वारा प्रकाशित : हेरिटेज आफ आर्ट सीरीज २ पृ. ३०–३१.

दोनों स्थानों में इस काल से सम्बद्ध की जा सकने वाली जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उनके समकक्षीय उदाहरण राजिम में भी मिलते हैं। इससे तत्कालीन सांस्कृतिक कार्यक्रमों के केन्द्र-रूप में इस स्थान की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। इसके अतिरिक्त इस वंश के शासक महाशिव तीवरदेव का ताम्रपत्र शासन भी यहाँ से प्राप्त हुआ है। विद्वान इसके निकटवर्ती एक ग्राम पाण्डुका के नाम को इस वंश के नाम पर आधारित मानते हैं। इन दोनों साक्ष्यों से राजिम क्षेत्र में इस वंश के शासकों का कार्यक्षेत्र होना सिद्ध है।

अभी तक जो अनुसंधान कार्य किये गये हैं, उनसे यह प्रमाणित हो चुका है कि वर्तमान रायपुर एवं दुर्ग जिलों से सोमवंशियों को अपदस्थ करने का श्रेय विलासतुंग के नलवंश को है। इस वंश के इतिहास पर प्रकाश डालने वाला एकमात्र शिलालेख राजिम के राजीवलोचन मन्दिर में है। इस अभिलेख में महाराज विलासतुंग द्वारा भगवान विष्णु का एक भव्य मन्दिर निर्माण कराने का वर्णन है। इस मन्दिर की पहचान इतिहासकारों ने वर्तमान राजीवलोचन मन्दिर से की है। अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि नलवंश के शासन काल में राजिम को अपने विकास के लिए राज्य प्रश्रय प्राप्त रहा है।

नलवंश के पश्चात् दक्षिण कोशल पर कलचुरियों का शासन स्थापित हुआ। यह काल राजिम के विकास की परास्थिति का काल था। इसी समय कलचुरियों के सामन्त जगपालदेव ने यहाँ भगवान रामचन्द्र का मन्दिर बनवाया। इनके द्वारा उत्कीर्ण कराया गया शिलालेख राजीवलोचन मन्दिर में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त राजिम से सम्बन्धित कई किम्वदन्तियों के साथ इसका नाम जुड़ा हुआ है। इन सबसे ऐसा प्रतीत होता है कि इसने राजिम के विकास के लिए विशेष प्रयास किया था।

• • •

द्वितीय अध्याय

पुरातात्त्विक अवशेष एवं उनका महत्व

प्राचीन समय में राजिम–दक्षिण कोशल का एक समृद्धिशाली तथा ऐश्वर्यपूर्ण नगर था। सम्भवतः महानदी, पैरी एवं सोंढूल नदियों का संगमस्थल होने के कारण यथेष्ट प्राचीन काल (कम से कम महाभारत की रचना काल के समय) से इसे विशेष धार्मिक महत्व प्राप्त रहा है।[1] धार्मिक महत्ता के कारण जन-संस्कृति का सम्यक् प्रभाव इस पर पड़ता रहा है। जन-संस्कृति की इस सन्निकटता के परिणामस्वरूप युग-विशेष के सांस्कृतिक आन्दोलनों, तथा उसकी विशिष्ट उपलब्धियों से इसका घनिष्ट परिचय रहना स्वाभाविक ही था। समाज की तत्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति, प्रजा की संतुष्टि तथा सांस्कृतिक परम्पराओं की प्रतिष्ठा के साथ-साथ वैयक्तिक आकांक्षाओं की तुष्टि के लिए विभिन्न ऐतिहासिक युगों में शासक वर्ग द्वारा भी इसे सदैव राज्य-प्रश्रय प्रदान किया जाता रहा है। इस तरह राजिम को आत्मोत्कर्ष के लिए प्रारम्भ से ही चतुर्दिक अनुकूल वातावरण मिलता रहा है।

इसके धार्मिक महत्व का स्वरूप क्षेत्रीय न होकर सार्वदेशिक था। फलतः इसके आत्मोन्नयन की प्रकृति तथा प्रवृत्तिमात्र क्षेत्रीय वृत्तियों की अनुगामिनी न होकर सम्पूर्ण देश की सार्वजनीन भावनाओं एवं धारणाओं से समरसता स्थापित करने वाली रही है। अतएव इसका प्राचीन सांस्कृतिक कलेवर भी क्षेत्रीय न होकर सार्वदेशिक रहा है। धार्मिक तीर्थस्थल होने के कारण देश के विभिन्न अंचलों में पल्लवित संस्कृतियों के मध्य सम्पर्क स्थापित करने में भी इसका योगदान उल्लेखनीय रहा है। इस गुरुतर दायित्व के सफलतापूर्वक निर्वाह करने से इसकी अपनी सांस्कृतिक भूमि की सर्व-समन्वयात्मक प्रकृति स्वाभाविक ही थी। इस तरह राजिम को युग-युगान्तर पर्यन्त विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृतियों के मध्य सुमंजुल समन्वय स्थापित कर एक सार्वजनीन संस्कृति की प्रतिष्ठा के लिए उदात्त पथ प्रशस्त करने का भी गौरव प्राप्त रहा है।

धार्मिक सजीवता के कारण इसकी सांस्कृतिक क्रियाशीलता कभी भी विलुप्त नहीं होने पायी। इसके सुदीर्घ सांस्कृतिक इतिहास में ऐसे अनेक अवसर रहे, जबकि परिस्थिति विशेष से प्रभावित इसकी क्रियाशीलता अल्पकाल के लिए अवरुद्ध हो जाती थी। परन्तु इस स्थिति के बाद पुनः अनुकूल आने पर वह क्रियाशीलता पूर्वापेक्षा तीव्र

---

१. वैदिक काल से ही प्रायः सभी नदियों तथा उनके संगम-स्थल को पवित्र माना जाता था। इस सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए डा० पा. वा. काणे कृत धर्मशास्त्र का इतिहास भाग–३, का पवित्र स्थल सम्बन्धी प्रकरण मननीय है।

होती रही है। इस तरह कभी अतीव वेग के साथ, तो कभी सामान्य या कभी मन्द गति से विकास के एक-एक सोपान को लांघते हुए राजिम ने शताब्दियों पर्यन्त ऐश्वर्य का उपभोग किया है, आज भी कर रहा है। प्रत्येक युग में उसके ऐश्वर्य के भौतिक स्वरूप में भिन्नता रही है। यह भिन्नता अलग-अलग ऐतिहासिक युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिस्थितियों की भिन्नता द्वारा निर्धारित होती रही है। राजिम के युगातीत ऐश्वर्य के भौतिक-स्वरूप की इस भिन्नता को ही हम इसके सांस्कृतिक इतिहास का अनुक्रम मान सकते हैं। परन्तु इस सांस्कृतिक अनुक्रम का ज्ञान किसी साहित्यिक साक्ष्य द्वारा नहीं हो पाता। महाभारत तथा पुराणों में चित्रोत्पला अर्थात् महानदी के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं, उनके आधार पर, जैसा पूर्व पीठिका में हमने निरूपित किया है, इसके धार्मिक महत्व पर ही प्रकाश डाला जा सकता है। महाभारत में उल्लिखित कोशल के बदरी तीर्थ से इसका लेखक द्वारा प्रस्थापित समता को स्वीकार कर लिया जाता है, तो इससे भी केवल इसके धार्मिक महत्व का स्थान होना सिद्ध होता है। अन्य क्षेत्रों में इसकी उपलब्धियों के सम्बन्ध में कोई उल्लेख हमें साहित्यिक साधनों से प्राप्त नहीं होता। इस सन्दर्भ में पुरातात्विक उपलब्धियाँ ही एक मात्र जीवन्त प्रमाण हैं। परन्तु पुरातात्विक सामग्रियों का भी समुचित ढंग से सर्वेक्षण-परीक्षण नहीं किया गया है। राजिम के प्राचीन ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वर्तमान समय तक विद्वानों ने सामान्यत: यहाँ के मन्दिरों, मूर्तियों तथा उपलब्ध ताम्रपत्र लेखों अथवा शिलालेखों का ही एकमात्र साधनरूप में उपयोग किया है। परन्तु इन सामग्रियों से इस के सांस्कृतिक अनुक्रम का निर्धारण तथा युग विशेष की सांस्कृतिक दशा का यथार्थ एवं सूक्ष्म रूपांकन कर पाना असम्भव नहीं होते हुए भी अपूर्ण है। यह ध्रुव सत्य है कि जब तक यहाँ के किसी ऐसे टीले, जिसके गर्भ में छिपी हुई युग-विशेष से सम्बन्धित सामग्रियाँ विशिष्ट प्राकृतिक कारणों से अथवा मानस निर्मित परिवर्तनों द्वारा अस्त-व्यस्त न कर दी गयी हों, पर वृहद् रूप में उत्खनन का कार्य नहीं किया जाता, तब तक इसके विभिन्न सांस्कृतिक अनुक्रमों का सही रूपायन नहीं किया जा सकता। परन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि उत्खनन कार्य तो दूर रहा, इस ग्राम का तथा इसके सीमावर्ती अन्य ग्रामों का विस्तृत पुरातात्विक सर्वेक्षण भी नहीं किया गया है। जिस विद्वान ने भी इस स्थान का भ्रमण किया है, उसका ध्यान मुख्य रूप से मन्दिरों अथवा यहाँ से प्राप्त अभिलेखों के अध्ययन तक ही सीमित रहा है। लेखक ने इस मोनोग्राफ को तैयार करने से पूर्व राजिम तथा उसके सीमावर्ती ग्रामों एवं क्षेत्र के उन समस्त स्थानों का—जिनका इससे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्बन्ध रहा है, विस्तृत सर्वेक्षण करने का प्रयास किया है, और इस सर्वेक्षण से प्राप्त निष्कर्षों को इन पृष्ठों में सँजोने की चेष्टा की है।[1]

सर्वेक्षण से प्राप्त सामग्रियों को गौण रूप से अधोलिखित तीन वर्गों में विभक्त

---

१. राजिम के पुरातात्विक महत्व के स्थल का नक्शा चित्रफलक २ में दिया गया है।

किया जा सकता है :—

(अ) मृत्पात्र अवशेष[१] :

मृत्पात्र-अवशेषों की, स्थान के विस्तार क्षेत्र के निर्धारण की दृष्टि से, विशेष उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः वर्तमान में हमारे पास यही एकमात्र ऐसा साधन है, जिसके द्वारा राजिम के प्राचीन समय में विस्तार का सीमांकन कर सकना सम्भव है। मृत्पात्र-अवशेषों का महानदी तथा पैरी नदियों के पूर्वी तटीय स्थल पर उत्तर से दक्षिण की दिशा में विस्तार को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान भूतेश्वर एवं पंचेश्वर महादेव के मन्दिर प्राचीन राजिम की पश्चिमी सीमा रेखा के लगभग मध्य में थे। इन मन्दिरों से उत्तर की दिशा में महानदी के तट प्रदेश पर प्राचीन मृत्पात्रों के अवशेष वर्तमान पितईबंद नामक ग्राम के पास से मिलने लगते हैं। पितईबंद के पास से लेकर वर्तमान सोमेश्वर महादेव के मन्दिर के उत्तर में विस्तृत तटीय स्थल पर ये अवशेष थोड़े-थोड़े अन्तर पर दिखाई पड़ते हैं। परन्तु सोमेश्वर मन्दिर से लगभग ३० किलोमीटर (१॥ फर्लांग) ऊपर से इनकी प्राप्ति एक अटूट शृंखलाबद्ध रूप में होने लगती है। यह शृंखला भूतेश्वर तथा पंचेश्वर मन्दिर के दक्षिण की ओर लगभग २० किलोमीटर (१ फर्लांग) आगे तक व्याप्त है। इसके आगे स्फुट रूप में ये अवशेष लगभग १.६१ किलोमीटर (१ मील) और दक्षिण तक प्राप्त होते हैं। लेखक ने दक्षिण दिशा की ओर पैरी नदी के पूर्वी कगार पर मृत्पात्रों के अवशेषों से युक्त जो अन्तिम ठीहा देखा है, उसके ठीक पश्चिम में पैरी नदी के पश्चिमी तट पर नवागाँव नामक एक ग्राम है। इस गाँव से थोड़ा हटकर पश्चिम दिशा की ओर महानदी की अन्य सहायक सोंढूल का प्रवाह क्षेत्र है। सोंढूल के पश्चिमी तट पर नवागाँव की बस्ती से उत्तर-पश्चिम की ओर प्राचीन मृत्पात्रों के अवशेषों से युक्त एक छोटा सा टीला है। यहाँ प्राचीन भवन आदि के कुछ चिह्न भी दिखाई पड़ते हैं। लेखक का अनुमान है कि प्राचीन समय में वर्तमान बस्तर तथा दुर्ग जिले की ओर से आने वाले यात्री यहाँ पर सोंढूल को पार करते रहे होंगे और कुलेश्वर महादेव के मन्दिर के पास से महानदी को पार कर राजिम में प्रवेश करते रहे होंगे। इस तरह सोंढूल नदी के तट पर स्थित इस टीले को हम दक्षिण-पश्चिम दिशा पर स्थित राजिम का प्रवेश-मार्ग मान सकते हैं। इस टीले के कगारी भाग का स्वरूप नदी की त्वरित कटाव-जमाव प्रक्रिया के कारण इतना अव्यवस्थित हो चला है कि कगार पर मिलने वाले अवशेषों का स्तर क्रम-विन्यास पूर्णरूपेण अव्यवस्थित हो चला है। अतः इस स्थल पर सांस्कृतिक अनुक्रम का निर्धारण नितान्त असम्भव सा हो गया है, इस समस्या का निदान मात्र उत्खनन कार्य से ही सम्भव है।

वर्तमान सोमेश्वर महादेव मन्दिर से उत्तर-पश्चिम की दिशा में महानदी के पश्चिमी तट पर लगभग ८० कि० मी० (आधे मील) की दूरी पर पारागाँव नामक

---

१. चित्र-फलक ३ एवं ४.

ग्राम है। इस गाँव में नदी के तट पर एक विस्तृत टीला है। इस टीले पर एक प्राचीन शिवलिंग पड़ा हुआ है। प्राचीन भवनों के चिह्न भी देखने को मिलते हैं। नदी के कगार का अवलोकन करने पर हमें मृत्पात्र के अवशेष दो अलग-अलग स्तरों में विभक्त मिलते हैं। इन दो अलग-अलग स्तरों को दो विशिष्ट सांस्कृतिक अनुक्रमों का द्योतक माना जा सकता है। परन्तु इन अनुक्रमों का निश्चित समय निर्धारित कर सकना असम्भव है क्योंकि नदी के कटाव तथा जमाव की प्रक्रिया के कारण ऊपरी स्तर के मृत्पात्र के टुकड़े निचले स्तर के अवशेषों के बीच में आ फंसे हैं। उसी तरह निचले स्तर के मृत्पात्र के छोटे टुकड़े ऊपरी सतह में जम गये हैं। इस अव्यवस्था के होते हुए भी इस टीले का ऐतिहासिक अस्तित्व यह सिद्ध कर देता है कि यह स्थान उत्तर-पश्चिम दिशा में स्थित राजिम का दूसरा प्रवेश मार्ग था, जहाँ से महानदी को पार कर लोग राजिम में प्रवेश करते थे। इस टीले का सम्बन्ध—राजिम, चाँपाझर (प्राचीन चंपारण्य : राजिम की पंचकोशी यात्रा का एक पड़ाव, वल्लभ–सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक वल्लभाचार्य का जन्मस्थल), एवं आरंग (दक्षिण कोशल के राजर्षि–तुल्यकुल के महाराज भीमसेन द्वितीय के द्वारा प्रदत्त दानपत्र का प्राप्ति स्थान) को जोड़ने वाले मार्ग से था।

उत्तर से दक्षिण की दिशा में मृत्पात्र के अवशेषों के विस्तार क्षेत्र को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में राजिम उत्तर से दक्षिण की ओर लगभग ४.८३ कि. मी. (३ मील) के विस्तार में बसा हुआ था। वर्तमान पितईबंद ग्राम का अधिकांश भाग इसके विस्तार क्षेत्र में अन्तर्भुक्त था।

पूर्व से पश्चिम दिशा में राजिम के विस्तार का सीमांकन कर सकना असम्भव है। परन्तु दूर-दूर तक फैले हुए टीलों को देखकर इस सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, तथा इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तर से दक्षिण दिशा में विस्तार के अनुपात से ही पूर्व से पश्चिम में भी इसका फैलाव रहा होगा।

राजिम के सांस्कृतिक अनुक्रम के निर्धारण में भी इन मृत्पात्रों का विशेष महत्व है। महानदी तथा पैरी नदी के कगारी सतह का निरीक्षण करने पर हमें कहीं-कहीं पर मृत्पात्रों के अवशेषों का तीन अथवा दो स्तरों में संगृहीत रहना दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए–पंचेश्वर महादेव मन्दिर के दक्षिण दिशा में मन्दिर से लगभग २२.८३ मीटर (२५ गज) की दूरी पर नदी के कगार सतह पर मृत्पात्रों के अवशेषों से युक्त तीन स्तर स्पष्ट देखे जा सकते हैं। वर्तमान भू-स्तर से प्रारम्भ करें तो प्रथम स्तर (स्तर-अ) सतह के १०.१६० सें. मी. से १५.२४० सें. मी. (४ इन्च से ६ इन्च) के नीचे से प्रारम्भ है और लगभग ४५.७२० सें. मी. (१ फुट ६ इंच) मोटे गहरे पर्त के रूप में है। इस स्तर (स्तर-अ) से लगभग ३ फुट नीचे दूसरा स्तर (स्तर-ब) है। इस स्तर में मृत्पात्रों के अवशेषों से युक्त पर्त स्तर-अ की तुलना में कहीं अधिक गहरा है। गत कुछ वर्षों में नदी की बाढ़ ने इस कगार का जिस द्रुत गति से कटाव किया है, उसके परिणामस्वरूप "स्तर-ब" पर ईंटों से बनाये गये एक मन्दिर का अधिष्ठान से जंघापर्यन्त स्थापत्य-विन्यास का स्वरूप स्पष्ट उभर आया

है। इस मन्दिर में परिलक्षित शैलीगत विशेषताओं तथा इसकी अलंकरणहीनता को देखते हुए इसे सिरपुर के लक्ष्मण देवल तथा राजिम के राजीवलोचन मन्दिर से यथेष्ट पूर्व की निर्मिति मानना समीचीन प्रतीत होता है। इस तरह यह मन्दिर राजिम का प्राचीनतम देवालय माना जा सकता है। परन्तु क्रमबद्ध उत्खनन कार्य के अभाव में इस मन्दिर का सर्वांङ्ग वर्णन कर सकना असम्भव है। "स्तर-ब" की अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि–अन्न रखने के लिए प्रयुक्त किये गये मिट्टी के बने, भूरे-लाल पालिस वाले, अच्छी तरह से पकाये गये चौड़े मुँह वाले विशाल पात्र हैं। ये पात्र सिरपुर में उत्खनन से प्राप्त पात्रों से मिलते-जुलते हैं। सोमेश्वर महादेव मन्दिर के पास से लेकर रावणभाटा तक नदी के कगार पर तथा बस्ती के भीतर खाद बनाने के लिए खोदे गये गड्ढों में लेखक को पचास से अधिक इस प्रकार के पात्रों के अवशेष देखने का अवसर मिला है। इस वर्ग के पात्रों के उदाहरण महानदी के पश्चिमी तट पर स्थित पारागाँव के टीले पर भी देखने को मिलते हैं। "स्तर-ब" से लगभग ६०.९६० से. मी. (२ फीट) नीचे "स्तर-स" है। यह सर्वाधिक अव्यवस्थित है, साथ ही मृत्पात्र अवशेषों से युक्त पर्त भी उपर्युक्त दोनों स्तरों की तुलना में कम मोटाई वाला है। अधिकाँश स्थलों पर नदी की कटाव प्रक्रिया के कारण यह स्तर लुप्तप्राय है।

इन तीनों स्तरों को क्रमशः राजिम संस्कृति अ, ब और स की संज्ञा दी जा सकती है। परन्तु नदी के कगार पर दिखाई पड़ने वाले स्तरों को आधार मानकर इनका निश्चित समय निर्धारित कर सकना अत्यन्त दुष्कर है। बाहर से दिखाई देने वाले इन स्तरों की ऐतिहासिक प्रमाणिकता नदी की जमाव-कटाव प्रक्रिया के कारण उस समय तक सन्देहास्पद बनी रहेगी जब तक यहाँ किसी ऐसे भाग पर जहाँ तीनों स्तरों का अस्तित्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता हो, परीक्षण, निखात (ट्रायल-ट्रेंच) बना कर उत्खनन नहीं किया जाता। परन्तु इन सब संशयात्मक स्थितियों की विद्यमानता के बाद भी सामान्य सर्वेक्षण में प्राप्त होने वाले मृत्पात्रों की शैली, उन पर द्रष्टव्य रंगलेप की विशिष्टता आदि के आधार पर देश के अन्यान्य भागों से प्राप्त समकक्षीय उदाहरणों के साथ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इनके समय के सम्बन्ध में कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है।

सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष प्रो. के० डी० बाजपेयी के निर्देशन में गत दो वर्षों से यहाँ समय-समय पर सर्वेक्षक आते रहे हैं। इसमें प्रो. झा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। रायपुर से प्रकाशित होने वाले दैनिक समाचार पत्रों को प्रो. झा ने यह सूचना प्रकाशनार्थ दी थी कि राजिम संस्कृति का प्रारम्भ "चाल्कोलिथिक युग" में हुआ। इसे सन् १९७० के जुलाई माह के ७ तारीख के अंक में प्रकाशित किया गया। प्रो० झा का कहना है कि उन्हें यहाँ से चाल्कोलिथिक संस्कृति से सम्बद्ध प्रस्तर औजार (माइक्रोलिथ्स), ताम्र औजार तथा मृत्पात्रों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस सूचना की जाँच करने के लिए जिलाधीश रायपुर के आदेश पर महंत घासीदास संग्रहालय के संग्रहालयाध्यक्ष श्री श्रीवास्तव द्वारा राजिम तथा उसके समीपस्थ क्षेत्रों का सर्वे-

क्षण किया गया। शासन को प्रेरित जानकारी में इन्होंने कहा है कि सामान्य सर्वेक्षण से यहाँ चाल्कोलिथिक संस्कृति का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। उन्हें राजिम के निकट पांडुका ग्राम से लगभग २ किलोमीटर की दूरी पर स्थित कोटेना नामक गाँव में पैरी नदी के किनारे स्थित एक विशाल टीले से मृत्पात्रों के अवशेषों के साथ-साथ "सीरीज-२" के प्रस्तर औजार प्राप्त हुए हैं। परन्तु यहाँ भी वे प्राप्त प्रस्तर औजार के साथ मृत्पात्रों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध, उत्खनन के अभाव में निश्चित कर पाना नितान्त असम्भव मानते हैं। अतः वे प्रो० झा की उक्त घोषणा को वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा अविश्वसनीय स्वीकार करते हैं। लेखक को भी यहाँ के सर्वेक्षण में प्रस्तर अथवा धातु के औजारों का एक भी उदाहरण प्राप्त नहीं हुआ है। अलबत्ता ऐसे मृत्पात्रों के छोटे-छोटे टुकड़े अवश्य मिले हैं जिन पर लाल अथवा भूरे-लाल के ऊपर काले लेप द्वारा अलंकरणात्मक अभिप्रायों को रूपांकित किया गया है।[1] इस वर्ग के प्राप्त उदाहरण आकार में इतने छोटे हैं कि उनके पात्र-विशेष से सम्बद्धता का निर्धारण तथा उन पर अलंकृत अभिप्रायों के समष्टिगत स्वरूप का निर्देशन कर पाना असम्भव है। परन्तु लाल अथवा भूरे-लाल पर काले रंग से अलंकृत इन मृत्पात्र अवशेषों को यदि 'ब्लेक आन रेडवेयर'[2] के नाम से सम्बोधित किये जाने वाले वर्ग विशेष का प्रतिनिधि उदाहरण मानना स्वीकार कर लिया जाता है, तब इन्हें चाल्कोलिथिक संस्कृति की उपलब्धि के रूप में ग्रहण करना सम्भव है। इसमें संशय नहीं कि आवरा, नागदा, एरण, त्रिपुरी तथा नवदाटोली से प्राप्त 'ब्लेक आन रेड वेयर' प्रकार के मृत्पात्रों का सम्बन्ध चाल्कोलिथिक संस्कृति से है, जिसका समय स्थूल रूप से १७०० ई० पू० से प्रारम्भ कर १२०० ई० पू० तक स्थिर किया जाता है।

उपर्युक्त "ब्लेक आन रेड वेयर" अथवा "मालवा वेयर"[3] के सम्भावित प्रति-

---

१. चित्रफलक ३ क्रमांक १, २, ३.

२. बी. बी. लाल, इण्डियन आर्कयालाजी सिन्स इन्डिपेन्डेंस पृ. ७४.

३. भारत में चाल्कोलिथिक संस्कृति का विकास दो अलग-अलग प्रदेशों में लगभग एक ही समय में तथा समानान्तर रूप में हुआ है। इसमें प्रथम मध्य-भारत क्षेत्र है-जहाँ आवरा, नागदा,एरण, त्रिपुरी एवं नवदाटोली का नामोल्लेख प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्रों के रूप में किया जा सकता है। दूसरा उत्तरी दक्खन प्रदेश है—जिसके अन्तर्गत नासिक, नेवासा, जारवे, चन्दोली आदि मुख्य केन्द्र थे। "ब्लेक आन रेड वेयर" मृद्भाण्ड को भारतीय चाल्कोलिथिक संस्कृति का सामान्य लक्षण स्वीकार किया जाता है। परन्तु मध्यभारत क्षेत्र अर्थात् मालवा प्रदेश और उत्तर दक्खन क्षेत्र से प्राप्त "ब्लेक आन रेड वेयर" प्रकार के भाण्डों का सूक्ष्म दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने पर इनमें यत्किंचित् अन्तर दिखाई पड़ता है। इन्हीं अन्तरों के आधार पर मध्यभारत क्षेत्र से प्राप्त "ब्लेक आन रेड वेयर" को "मालवा वेयर" तथा उत्तर-दक्षिण क्षेत्र से प्राप्त उदाहरणों को "जारवे वेयर" (सम्बन्धित प्रमुख केन्द्र के नाम पर) कहा जाता है। "मालवा वेयर" के पात्र सामान्यतः पीलापन लिए हुए भूरे-रंग के अथवा लाल रंग के होते हैं, जिस पर काले अथवा चाकलेटी रंग से अलंकरणात्मक अभिप्रायों को अभिव्यक्त किया गया है। "जारवे वेयर" के मृद्भाण्ड साधारणतया लाल रंग वाले हैं तथा उन पर अलंकरणात्मक अभिप्रायों का प्रस्तुतीकरण काले रंग द्वारा है। इस वर्ग के उदाहरण प्रायः मैट सरफेस (Matt Surface) वाले हैं।

निधि उदाहरण के पश्चात् हम प्राचीनता की दृष्टि से यहाँ से प्राप्त होने वाले मृत्-पात्र अवशेषों में अपेक्षाकृत अधिक घिसे हुए, फुसफुसी मिट्टी से बने, साधारण घर्षण से ही अंगुलियों में निशान छोड़ने वाले कपिशवर्ण भाण्डों (आकर वाइड वेयर) का उल्लेख कर सकते हैं। गहरे ललाम रंग के इन भाण्डों का समय डा० बी. बी. लाल ने ई० पू० १२०० से भी पहले कूता है।[१] इस प्रकार के भाण्ड हस्तिनापुर संस्कृति अनुक्रम १ की विशेष उपलब्धि है, जहाँ से इनकी प्राप्ति अत्यन्त ही टूटे-फूटे रूप में हुई है। परन्तु उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त भाण्डों के जो अवशेष लेखक ने राजिम से संगृहीत किये हैं वे प्यालेनुमा पात्र से प्रतीत होते हैं।[२] ऐसी स्थिति में यदि इन्हें कपिशवर्ण भाण्ड (आकर वाइड वेयर) संस्कृति का सूचक स्वीकार कर लिया जाता है, तो इन्हें हस्तिनापुर संस्कृति अनुक्रम १ का समकालीन मानना होगा।

कपिशवर्ण भाण्ड संस्कृति (आकर वाइड वेयर) की सम्भावित उत्तराधिकारिणी के रूप में हम "ब्लेक एण्ड रेड वेयर" संस्कृति से सम्बन्धित भाण्डों को प्रमाण रूप में स्वीकार कर सकते हैं। इस वर्ग के मृत्पात्रों का अन्तः भाग तथा बाहर की ओर का ऊपरी भाग काला और बाह्य भाग लाल होता है। इसीलिए उसे ब्लैक एण्ड रेड वेयर के नाम से पुकारा जाता है। पकाने के समय पात्रों को आवे में उलटा रख कर उसके अन्तः एवं बाह्य भागों में इस प्रकार की रंगभिन्नता उत्पन्न की जाती थी। यद्यपि राजिम तथा उससे सम्बन्धित स्थानों से इस वर्ग के जो उदाहरण प्राप्त हुए हैं, उनका सही समय निर्धारण कर सकना वर्तमान में असम्भव है, परन्तु यहाँ की प्राप्तियों की अन्य स्थानों की सहवर्गीय उपलब्धियों के साथ विद्यमान साधर्म्यता, सरूपता आदि समान गुणों की गणना कर इनके समय के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है।

इस प्रकार के भाण्डों का प्रचलन लगभग २००० ई०पू० से लेकर ई० स० के प्रारंभिक काल तक रहा है। दीर्घावधि तक प्रचलन में रहने के कारण इस वर्ग के अन्तर्गत अनेक अवान्तर भेद पाये जाते हैं। प्रारम्भिक उदाहरणों में सामान्यतः सफेद रंग द्वारा अलंकरणात्मक अभिप्रायों को प्रकट किया गया है, जैसाकि अहर, कौन्दनपुर, कावेरीपत्तन, आदि स्थानों से प्राप्त उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है। परन्तु राजिम तथा उसके समीपवर्ती स्थानों से प्राप्त उदाहरणों में इस प्रकार के अलंकारणात्मक अभिप्रायों का ऐकान्तिक अभाव है। यहाँ से प्राप्त अलंकरणहीन "ब्लेक एण्ड रेड" प्रकार के मृद्भाण्ड अपनी समस्त विशेषताओं में सोनपुर से प्राप्त उदाहरणों से मिलते-जुलते हैं। सोनपुर में यह एन० बी० पी० (नार्दन इण्डियन ब्लैक पालिश) की पूर्ववर्ती संस्कृति का द्योतक है। अतः ऐसी स्थिति में राजिम के ब्लैक एण्ड रेड वेयर प्रकार के मृद्पात्रों को जनपद युग से सम्बन्धित स्वीकार करना अनुचित नहीं होगा।

---

१. ब. बी. लाल : इण्डियन आर्कयालाजी सीन्स इन्डिपेन्डेंस पृ. ८१.

२. चित्र फलक ३–क्रमांक ४ एवं ५.

सोनपुर के ही समान राजिम में भी सम्भवत: ब्लैक एण्ड रेड वेयर का स्थान कालान्तर में एन० बी० पी०[1] ने लिया होगा।

लेखक ने सरगुजा जिले की रामगढ़ पहाड़ी की प्रसिद्ध जोगीमारा तथा सीता-बेंगा नामक शैलोत्खनित गुहाओं के समीपस्थ स्थलों से एन० बी० पी० के कुछ अवशेष प्राप्त किये हैं, जो राजिम के एन० बी० पी० के समकक्षीय जान पड़ते हैं। यदि रामगढ़ से प्राप्त एन. बी. पी. का सम्बन्ध वहाँ की गुहाओं के जीवन से स्थापित करना सम्भव मानें तो इन्हें यहाँ से प्राप्त अभिलेखों के समकालीन मानना होगा। लिपि के आधार पर यहाँ से प्राप्त अभिलेखों को ई० पू० द्वितीय शताब्दी का माना गया है। अत: ऐसी स्थिति में रामगढ़ एन० बी० पी० के समकक्षीय राजिम एन० बी० पी० का अन्तिम समय ई० पू० द्वितीय शताब्दी मानना होगा। इस धारणा की पुष्टि एक अन्य आधार द्वारा भी होती है—वह है मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य।

हस्तिनापुर संस्कृति अनुक्रम ३ से एन० बी० पी० एवं आहत मुद्राएँ साथ-साथ प्राप्त हुई हैं। इसी तरह रूपर संस्कृति अनुक्रम ३ में भी ए० बी० पी० तथा आहत मुद्राओं की समसामयिकता प्रमाणित है। हस्तिनापुर तथा रूपर संस्कृति अनुक्रम ३ को ई०पू० ६०० से ई०पू० २०० के मध्य रखा गया है। मौर्य कालीन आहत मुद्राओं के कई दफीने छत्तीसगढ़ क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। यदि यहाँ से प्राप्त एन० बी० पी० को आहत मुद्राओं के समकालीन मान लें तो यह स्वीकार करना होगा कि राजिम में एन० बी० पी० का प्रचलन कम से कम मौर्य काल तक अवश्य रहा होगा।

राजिम से उपर्युक्त तीनों प्रकारों के मृद्पात्रों के अवशेष अपेक्षाकृत अल्प-संख्या में प्राप्त होते हैं। इनकी इस अल्प प्राप्ति से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि राजिम के सांस्कृतिक इतिहास का प्रारम्भ महाभारत काल अथवा इससे कुछ समय पूर्व ही हो गया था पर नगर की समृद्धि एवं ऐश्वर्य में वृद्धि मौर्यों के बाद से सम्भवत: भागवत धर्म की सार्वदेशिक प्रतिष्ठा के साथ-साथ प्रारम्भ हुई।

भूरे रंग के मिट्टी[2] के बर्तन के अवशेष उपर्युक्त तीनों प्रकारों से अपेक्षाकृत अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इन बर्तनों को शुंग-कुषाण कालीन माना जा सकता है। प्रतीत होता है कि आलोच्य काल से राजिम का विशेष विकास प्रारम्भ हुआ होगा। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय धर्म साधना के इतिहास में यह युग भक्ति प्रधान भागवत धर्म के विकास का युग था। छत्तीसगढ़ क्षेत्र में बुढ़ीखार (मल्लार) से प्रथम शताब्दी ई० स० की लेखयुक्त विष्णु प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह समस्त देश में अपने वर्ग की प्राचीनतम ज्ञात प्रतिमा है। मल्लार, डमरू, गिधपुरी,

---

१. एन. बी. पी. नार्दन ब्लैक पालिश्ड वेयर प्रकार के मृण्पात्रों के लिए सामान्य प्रयोग में आने वाला सांकेतिक रूप है। इस प्रकार के मृद्भाण्ड ई. पू. ६०० से ई. पू. २०० तक प्रचलन में थे। ये पात्र सामान्यत: काले रंग के, अत्यन्त चमकदार और अत्यधिक चिकनापन लिए हुए होते हैं।

२. चित्रफलक ३—क्रमांक ६, ७, ८.

आरंग, पारागाँव तथा राजिम से प्राप्त होने वाले इस वर्ग के मृत्पात्र-अवशेषों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आलोच्य काल में इन स्थानों का परस्पर एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्पर्क-सम्बन्ध रहा होगा।

महाभारत में राजिम से प्रारम्भ कर महानदी के लिए चित्रोत्पला नाम का उल्लेख तथा दक्षिण कोशल में स्थित तीर्थों में राजिम की बदरी तीर्थ के रूप में लोकप्रियता, ऐसे प्रमाण हैं, जिनसे यह स्वीकार किया जा सकता है कि जैसे-जैसे भागवत धर्म की लोकप्रियता में वृद्धि होती गयी वैसे-वैसे राजिम के सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्व का भी विकास होता गया तथा तदनुरूप इसकी भौतिक समृद्धि एवं ऐश्वर्य में भी वृद्धि होती गयी।

राजिम से काचित भाण्डों[१] के अवशेषों की प्राप्ति विशेष उल्लेखनीय है। भारतीय पुरातत्त्वविदों की धारणा है कि इस प्रकार की मृत्पात्र कला का भारत में आगमन रोम-संस्कृति से सम्पर्क-सम्बन्ध के साथ हुआ और जैसा कि अहिच्छत्र के उत्खनन से प्राप्त प्रमाणों से प्रकट होता है, इनकी माँग पूर्वगुप्त युग तक बनी रही। छत्तीसगढ़ से प्राप्त रोम के सम्राटों के सिक्कों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरी शताब्दी ई. स. में इस क्षेत्र का व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध रोम से था। अतः इस सम्बन्ध के कारण रोम संस्कृति की देन काचित भाण्डों का छत्तीसगढ़ में प्रचलित रहना असम्भव नहीं।

यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि शुंग-कुषाण-कालीन भूरे भाण्डों का स्थान कालान्तर में 'रेड-पालिश्ड वेयर' ने लिया हो। रेड पालिश्ड वेयर (लाल रंग वाले मृद्भाण्ड) का समय सामान्यतः प्रथम शताब्दी ई० पू० से लेकर चौथी शताब्दी ई० स० तक माना जाता है। इस प्रकार के पात्रों के अन्तः तथा बाह्य भाग पर सिन्दूरी लाल रंग लगा होता है।[२]

पाँचवी शताब्दी से लेकर कलचुरि युग तक के मृद्भाण्ड अवशेष सर्वाधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। ये लाल, भूरे अथवा भूरे पर लाल के अतिरिक्त रोगन वाले हैं। इस वर्ग के कुछ उदाहरणों में अलंकरणात्मक अभिप्राय उत्खचित हैं।[३]

मृत्पात्रों के अतिरिक्त अन्य उपलब्ध पुरातात्त्विक अवशेषों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि पाँचवीं शताब्दी से लेकर कलचुरि युग की समाप्ति तक का काल राजिम के लिए चरमोत्कर्ष का युग रहा है।

आ–स्मारक तथा भवन आदि के अवशेष :

सोमेश्वर महादेव मन्दिर के पूर्व तथा दक्षिण दिशा की पड़ती भूमि पर म०

---

१. काचित भाण्ड (ग्लेज्ड वेयर) काले से भूरे रंग के होते हैं। इन पात्रों का ऊपरी कलेवर अत्यन्त चिकना एवं चमकदार होता है। इस प्रकार के पात्रों का समय सामान्यतः ईसा संवत के प्रारम्भ से लेकर २०० ई. स. तक माना जाता है।

२. चित्रफलक ३—क्रमांक ९ एवं चित्रफलक ४ का १०-११-१२.

३. चित्रफलक ४—क्रमांक १३ से १९.

प्र० शासन लोक निर्माण विभाग द्वारा सड़क बनाने हेतु मिट्टी प्राप्त करने के लिए खुदाई की जा रही है। पुरातात्त्विक दृष्टि से यद्यपि यह खुदाई का कार्य पूर्णरूपेण अवैज्ञानिक ढंग से हो रहा है, जिसके परिणामस्वरूप प्राचीन अवशेषों के सुरक्षित रूप में प्राप्त होने की कल्पना ही निर्मूल है, परन्तु इस खुदाई से प्राचीन भवनों के चिह्न, दीवालों के अवशेष आदि उभर कर सामने प्रत्यक्ष हो गये हैं। इसका सूक्ष्म सर्वेक्षण करने से ज्ञात होता है कि सामान्यत: दीवालों के निर्माण में पकाई हुई ईंटों का प्रयोग किया जाता था। दीवालों के नीचे भवनों के नीवों को सम्भवत: ठोस मिट्टी से पूर दिया जाता था। इन अवशेषों को देखने के पश्चात् यहाँ वृहत् पैमाने पर तथा क्रमबद्ध रूप में उत्खनन कार्य कराये जाने की आवश्यकता का प्रतिपादन करना अनिवार्य हो जाता है।

सोमेश्वर मन्दिर के महामण्डप के सामने वर्तमान भू-स्तर के नीचे निश्चित आकार-प्रकार में काटे-तराशे गये प्रस्तर की ईंटों से बनाया गया एक स्मारक का अवशेष विद्यमान है। वर्तमान में इसके ऊपरी भाग को ढँक दिया गया है, तथा इसकी छत को आधार प्रदान करने के लिए एक प्राचीन स्तम्भ एवं किसी लुप्त मन्दिर के प्रवेश द्वार के सिरदल को स्तम्भ रूप में खड़ा कर दिया गया है। इस सिरदल के ललाट-बिम्ब पर दोनों हाथों में नागफण पकड़े गरुड़ की मूर्ति का रूपांकन है, जो किसी लुप्त वैष्णव मन्दिर से इसका सम्बन्ध सूचित करता है।

राजिम की वर्तमान बस्ती के अन्दर भी कई स्थानों पर प्राचीन भवनों के चिह्न स्पष्टतया दिखाई पड़ते हैं।

पुरातात्विक महत्व के उपलब्ध उदाहरणों में मन्दिर, उसके स्तम्भ, भित्ति-स्तम्भ (कुड्य स्तम्भ), प्रवेश द्वार तथा मूर्तियाँ आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से राजीवलोचन तथा उसके चारों आनुषंगिक देवालय (वामन, वाराह, नृसिंह तथा बद्रीनारायण मन्दिर), राजेश्वर, दानेश्वर, तेलिन, जगन्नाथ, पंचेश्वर, भूतेश्वर, कुलेश्वर, रामचन्द्र तथा सोमेश्वर महादेव के मन्दिरों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये मन्दिर आठवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी के मध्य के बने हैं। इन मन्दिरों के अतिरिक्त यहाँ प्राचीन समय में और भी अन्य मन्दिर रहे होंगे। यह तथ्य अभिलेखिक साक्ष्यों तथा पूर्णरूपेण नष्ट हो गये मन्दिरों के अवशेषों को देखने से ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए—पंचेश्वर महादेव मन्दिर के दक्षिण में नदी द्वारा किये गये कटाव के कारण ईंटों से बने एक अन्य मन्दिर का अधिष्ठान से जंघा तक का भाग बाहर निकल आया है। बस्ती के भीतर भी एक पुराने मन्दिर के अधिष्ठान का ईंटों से बना आधारपीठ विद्यमान है, परन्तु इस पर वर्तमान में एक झोपड़ी बना ली गयी है। मौराहा तालाब के पूर्वी तट पर स्थित शिव का वर्तमान मन्दिर वस्तुत: यहाँ पर बनाये गये प्राचीन मन्दिर के ऊपर ही खड़ा कर दिया गया है। इस तथ्य की पुष्टि इसके गर्भगृह में प्रतिष्ठित शिवलिंग की प्राचीनता तथा मन्दिर के निकट, वट की छाया में पडी आमलक शिला से हो जाती है। राजीवलोचन मन्दिर के अहाते के अन्दर बेगलर ने अपनी यात्रा के समय गोपुरम् तथा गर्भगृह के प्रवेशद्वार के अतिरिक्त किसी अन्य

नष्ट मन्दिर के प्रवेशद्वार का सिरदल पड़ा पाया था। इस सिरदल के ललाटबिम्ब पर उसने विष्णु के "अनन्तशयन" रूप का अंकन देखा था। वामन मन्दिर के प्रवेश द्वार के ऊपर सिर-दल के रूप में वर्तमान में एक अतिरिक्त सिरदल जड़ा हुआ है, जिस पर अनन्तशायी विष्णु की मूर्ति अध्युच्च शैली में तथा गहरे उभार में रूपायित है। यह अतिरिक्त सिरदल यथेष्ट बाद में लगा दिया गया है, इसमें संशय नहीं। लेखक का अनुमान है कि वामन मन्दिर के प्रवेश द्वार पर लगाया गया यह सिरदल वही है जिसे बेगलर ने देखा था। इस सिरदल के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इसका सम्बन्ध वर्तमान में अनुपलब्ध किसी वैष्णव मन्दिर से रहा होगा। इस तथ्य की पुष्टि साक्षी गोपाल के लिए बनाये गये वर्तमान मन्दिर के स्तम्भों तथा उसके पृष्ठ भाग में बैठक के लिए निकाले गये बरांडानुमा मण्डप में लगे स्तम्भों तथा नदी-देवी यमुना की मूर्ति को देखने से होती है। वर्तमान में राजीवलोचन, रामचन्द्र एवं जगन्नाथ-ये ही तीन वैष्णव मन्दिर हैं, परन्तु इस सिरदल की प्राप्ति तथा राजीव-लोचन मन्दिर के प्रमुख प्राकार से सम्बद्ध दूसरे प्रकार की पार्श्वभित्ति पर जड़े चतु-र्भुज विष्णु की स्थानक मुद्रा में विद्यमान मूर्ति को देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि पहले यहाँ और भी वैष्णव मन्दिर होंगे। इस विष्णु प्रतिमा को देखकर यह असंदिग्ध-रूप से कहा जा सकता है कि किसी मन्दिर विशेष की प्राण-प्रतिष्ठा के निमित्त यह उसके गर्भगृह में प्रतिष्ठित रही होगी।

रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप और प्रदक्षिणापथ को परस्पर सम्बद्ध करने वाले दोनों पार्श्वों के प्रवेशद्वार गंगा-यमुना नदी-देवियों की मूर्तियों से अलंकृत पाख(शाख) वाले हैं। प्रदक्षिणापथ के लिए इस प्रकार के प्रवेशद्वारों का प्रयोग अन्य किसी उदा-हरण में देखने को नहीं मिलता। अतः यह कहना अस्वाभाविक नहीं होगा कि इन प्रवेशद्वारों का मूल सम्बन्ध किसी स्वतंत्र या आनुषंगिक देवलिकाओं से रहा होगा। इसी तरह सोमेश्वर महादेव मन्दिर के महामण्डप से लगे ऊपर उल्लिखित प्राचीन स्मारक में रखे गरुड़ मूर्ति युक्त ललाटबिम्ब वाले सिरदल से एक अन्य वैष्णव मन्दिर की सत्ता का सहज अनुमान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथ तथा बुद्ध की मूर्तियों की प्राप्ति से यहाँ प्राचीन समय में जैन एवं बौद्ध मन्दिरों की विद्यमानता प्रमाणित है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजिम शताब्दियों पर्यन्त प्राचीन दक्षिण-कोशल के स्थपतियों और शिल्पियों के सृजनात्मक उत्साह की तीव्रता तथा प्रबल धार्मिक उद्देश्य के आवेग से अभिभूत वास्तुकीय क्रियाशीलता एवं अमूर्त भावनाओं की सोद्देश्य सगुणात्मक अभिव्यक्ति का केन्द्र रहा है। कला सृजन की इस सुदीर्घ परम्परा का अध्ययन एक ओर जहाँ युग विशेष की कलात्मकवृत्ति, सौन्दर्य सम्बन्धी मान, अभिव्यक्ति की विशिष्ट शैली आदि कला-वैशिष्ट्यों को स्पष्ट करने में सहायक हैं, वहीं दूसरी ओर सामान्यजनों की धार्मिक भावनाओं, सामाजिक मान्य-ताओं आदि की प्रामाणिक तथा स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ प्रमाण भी हैं। इन निर्मितियों की वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन तथा बौद्ध धर्मों से विषयगत सम्बद्धता

जहाँ प्राचीन दक्षिण कोशल के लोगों की धार्मिक सहिष्णुता तथा उदारता की परिचायक है, वहीं राजिम की सर्व समन्वयात्मक संस्कृति की प्रकाशक भी है। चूँकि अगले पृष्ठों में यहाँ के मन्दिर वास्तु तथा मूर्तिकला का विशेष रूप से अध्ययन करना है, अतएव इनके सम्बन्ध में यहाँ और अधिक कुछ कहना उचित नहीं होगा।

(इ) प्राचीन अभिलेख एवं मुद्राएँ :

पितईबंद ग्राम से प्राप्त महेन्द्रादित्य एवं क्रमादित्य के सिक्के

इस वर्ग के अन्तर्गत प्राचीनता की दृष्टि से हम पितईबंद ग्राम से प्राप्त 'महेन्द्रादित्य एवं क्रमादित्य' नामांकित स्वर्ण-मुद्राओं का उल्लेख कर सकते हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि प्राचीन समय में पितईबंद ग्राम राजिम की सीमा के अन्तर्गत था। अतः इन सिक्कों की प्राप्ति को राजिम के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में कदापि उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

पितईबंद से प्राप्त सिक्कों की संख्या ४९ है। इसमें से ४६ सिक्के महेन्द्रादित्य नामांकित तथा ३ सिक्के क्रमादित्य नाम वाले हैं।[1] इस एकाकी प्राप्ति के अतिरिक्त राजिम तथा उसके समीपवर्ती किसी अन्य स्थान से इस वर्ग का कोई भी दूसरा उदाहरण अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। परन्तु रायपुर जिले के ही बलौदाबाजार तहसील के खैरताल नामक ग्राम से ५४ स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें से ५४ पर महेन्द्रादित्य का नाम उत्कीर्ण है। एक सिक्का जाँच से पूर्व ही गला डाला गया था। इसके अतिरिक्त उड़ीसा के कालाहण्डी जिले के मदनपुर–रामपुर किले से तथा चांदा जिले के भण्डारा ग्राम से भी महेन्द्रादित्य नामांकित उपयुक्त प्रकार की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इन उपलब्धियों से पूर्व लखनऊ संग्रहालय के मुद्राकोष में इस प्रकार का एक सिक्का संगृहीत था। इस सिक्के की प्राप्ति के सम्बन्ध में संग्रहालय में कोई सूचना नहीं है।

महेन्द्रादित्य तथा क्रमादित्य प्रकार के सिक्के २० ग्रेन औसत तौल वाले तथा वृत्ताकार हैं। इनमें मौद्रिक साँचे को पीछे से ठोंक-ठोंक कर प्रतीकों तथा मुद्रालेख आदि को उभारा गया है। मुद्रा-निर्माण की यह विशिष्ट प्रणाली प्राचीन दक्षिण कोशल में यथेष्ट समय तक प्रचलित थी। यह तथ्य पूर्वकालीन नल-नरेशों वराह आदि तथा शरभपुरीय नरेश प्रसन्नमात्र के सिक्कों का अध्ययन करने पर स्वयमेव सिद्ध हो जाता है।

इन सिक्कों के बिन्दु-मालाओं से आवृत मुखभाग को मध्य से एक आड़ी रेखा के उभार द्वारा दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। आड़ी रेखा के ऊपर प्रक्षिप्त पंख युक्त गरूड़ की खड़ी हुई मुद्रा में मूर्ति उत्कीर्ण है। इस गरूड़ की आकृति के दाहिने बाजू में बिन्दु माला से आवेष्टित अर्ध चन्द्र एवं चक्र बना हुआ है तथा बाँयी

---

१. चित्र फलक ५ क्रमांक १, २ एवं ३, क्रमादित्य के सिक्के हैं तथा ४ से १२ महेन्द्रादित्य के सिक्के हैं।

श्रोर सूर्य एवं दक्षिणावर्त शंख का रूपांकन है। किसी-किसी उदाहरण में वामवर्त शंख भी मिलता है।

आड़ी रेखा के नीचे पेटिका शीर्ष युक्त ब्राह्मी लिपि में मुद्रालेख उत्कीर्ण है। महेन्द्रादित्य प्रकार के सिक्कों पर मुद्रालेख का पाठ "श्रीमहेन्द्रादित्य" मिलता है। इसी भाँति क्रमादित्य प्रकार की मुद्राओं पर लेखपाठ—"श्रीक्रमादित्य" है। महेन्द्रादित्य प्रकार के सिक्कों पर नामलेख के "म" अक्षर के नीचे सात बिन्दु अथवा एक बिन्दु प्राप्त होता है। पर किसी-किसी उदाहरण में बिन्दु के स्थान पर घटाकृति मिलती है। इसी तरह "हे" अक्षर के नीचे स, द, म, प, त, श, आदि में से कोई एक अक्षर उभरे हुए दिखाई देते हैं। क्रमादित्य के सिक्कों पर भी इसी प्रकार से "स" अक्षर उत्कीर्ण किया गया मिलता है। इन मुद्राओं के नामलेख के नीचे पाये जाने वाले बिन्दु चिन्हों को श्री बालचंद जैन ने राजवर्ष से सम्बन्धित बताया है।

इन सिक्कों के महेन्द्रादित्य एवं क्रमादित्य की पहचान—प्राचीन दक्षिण कोशल के इतिहास से सम्बन्धित जटिलतम समस्याओं में से एक रही है। समय-समय पर अलग-अलग विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपना भिन्न-भिन्न मत अभिव्यक्त किया है, पर इनमें से किसी को भी अन्तिम एवं सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता। यद्यपि इस समस्या का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करना विषयान्तर होगा, तथापि महेन्द्रादित्य एवं क्रमादित्य का परम वैष्णव होना तथा राजिम के विकास में इनका महत्वपूर्ण हाथ होना इन मुद्राओं पर अंकित गरूड़ आकृति, शंख तथा चक्र चिह्न एवं पितईबंद से इनकी प्राप्ति द्वारा पूर्णरूपेण सम्भावित प्रतीत होता है। अतः इस सम्बन्ध में प्रस्तावित विभिन्न मतों का कुछ प्रकाशन अनुचित नहीं होगा।

लखनऊ संग्रहालय में संग्रहित महेन्द्रादित्य नामांकित मुद्रा का मुद्राशास्त्रीय अध्ययन तथा उसके ऐतिहासिक महत्व पर प्रकाश डालते हुए श्री प्रयागदयाल ने इस पर उल्लिखित महेन्द्रादित्य को गुप्त सम्राट कुमारगुप्त प्रथम से अभिन्न माना है।[१] इसके विपरीत श्री अजितकुमार घोष ने यद्यपि इस मुद्रा का सम्बन्ध श्री प्रयागदयाल की धारणा का अनुमोदन करते हुए गुप्तवंश से स्वीकार किया है, पर वे इस पर उत्कीर्ण राजा के नाम की समता भितरी मुद्रालेख के कुमारगुप्त द्वितीय से स्थापित करना समीचीन मानते हैं।[२] यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि इन दो प्रारम्भिक विद्वानों ने जिस समय अपना मत प्रस्तुत किया था, उस समय तक महेन्द्रादित्य के अन्य सिक्के प्राप्त नहीं हुए थे, अतः ऐसी स्थिति में इनके प्रमुख प्रचलन क्षेत्र का ज्ञान ही नहीं था। अतएव उस समय तक ज्ञात तथ्यों के आधार पर इन विद्वानों द्वारा महेन्द्रादित्य प्रकार के सिक्कों का गुप्तवंश के शासक द्वारा प्रचलित किया गया मानना तथा इस पर उत्कीर्ण "महेन्द्रादित्य" को विरुद्ध स्वीकार करते हुए इसकी समता समान विरुद धारण करने वाले गुप्त सम्राट कुमारगुप्त प्रथम अथवा कुमारगुप्त द्वितीय

---

१. एन. एस. भाग १५, ९, पृ. ११.

२. एन. एस. भाग २१, पृ. २१–२२.

से स्थापित करना स्वाभाविक ही था।

श्री व्ही० पी० रोडे ने रायपुर जिले के बलौदाबाजार तहसील के खेरताल नामक ग्राम से प्राप्त सिक्कों का अध्ययन एवं प्रकाशन किया है।[1] उन्होंने इन सिक्कों को उन पर उत्कीर्ण मुद्रालेख की लिपि के आधार पर दो वर्गों में विभक्त किया है। उनके मतानुसार प्रथम वर्ग के सिक्कों की लिपि शरभपुरीय नरेश नरेन्द्र के पिपरडुला ताम्रपत्र की लिपि से मिलती-जुलती है। अतः इस वर्ग के सिक्कों को कुमारगुप्त प्रथम के द्वारा दक्षिण कोशल क्षेत्रान्तर्गत प्रचलन के लिए प्रसारित मानना चाहिये। उनका यह भी कहना है कि इस वर्ग के सिक्के प्रसन्नमात्र के सिक्कों के साथ-साथ व्यवहार में थे। उन्होंने दूसरे वर्ग के सिक्कों की लिपि को सोमवंशी नरेश तीवरदेव के राजिम तथा बलौदा ताम्रपत्रों की लिपि से मिलती-जुलती माना है। तथा इस आधार पर इस वर्ग के समस्त सिक्को को तीवरदेव एवं उसके उत्तराधिकारियों द्वारा प्रसारित किया गया मानना समीचीन स्वीकार किया है। परन्तु रोडे महोदय का खेरताल से प्राप्त महेन्द्रादित्य प्रकार की मुद्राओं को लिपि के आधार पर दो वर्गों में विभक्त करना तथा इन दोनों वर्गों के उदाहरणों को दो अलग-अलग समय में दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा प्रसारित किये जाने का तर्क प्रस्तुत करना—नितान्त असंगत है।

डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने रोडे महोदय के लेख के साथ अपनी सम्पादकीय टीप दी है।[2] इसमें उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने वैयक्तिक विचारों को प्रस्तुत किया है। इस सम्पादकीय टीप में डा० अल्तेकर ने रोडे द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण को अप्रामाणिक, तथ्यहीन तथा सम्भावनाओं के परे निरूपित किया है। परन्तु जहाँ तक इन मुद्राओं की शासक अथवा राजवंश – विशेष से सम्बद्धता का प्रश्न है, उन्होंने वर्तमान परिस्थितियों में ज्ञान की अपर्याप्तता के कारण इस पर आधारित किसी भी प्रकार के निर्णय को संदिग्धताओं से आच्छन्न बताया है। अपनी इस धारणा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने इन मुद्राओं का गुप्तवंश से सम्बद्ध होने के पक्ष तथा विपक्ष दोनों की सम्भावना को पुष्ट करने वाले तर्क दिये हैं। कालान्तर में जिन विद्वानों ने इस पर कार्य किया है, उन लोगों ने डा० आल्तेकर द्वारा दिये गये तर्कों में से किसी एक पक्ष की धारणा को सत्य सिद्ध करने के लिए विविध प्रमाणों, तर्कों आदि का आश्रय लिया है, और इस तरह सत्यान्वेषण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया है। अतः डा० अल्तेकर द्वारा प्रस्तुत तर्कों का सारांश दे देना उचित होगा।

डा० अल्तेकर ने इन मुद्राओं की गुप्तवंश से सम्बद्धता स्वीकार करने के लिए निम्न तर्कों को आधार रूप में स्वीकार किया जाना सम्भावित बताया है—

(अ) लिपि के आधार पर इन मुद्राओं के प्रसारण का समय पाँचवीं शती ठहरता है। दक्षिणकोशल के किसी भी राजवंश में इस नाम के किसी राजा की

---

१. जे. एन. एस. आई. भाग १०, पृ. १३७–१३९.

२. जे. एन. आई. भाग १०, पृ. १३९–१४२.

ऐतिहासिकता ज्ञात नहीं है। समुद्रगुप्त द्वारा पराजित दक्षिण-कोशल का महेन्द्र–इन सिक्कों से बहुत पूर्व का था।

(आ) गुप्त नरेश कुमार गुप्त प्रथम ने सर्वथा नये प्रकार के अनेकों सिक्के प्रचलित किये थे, जैसा कि बयाना मुद्रानिधि से प्रमाणित है। अतः बहुत सम्भव है कि वर्तमान प्रकार की मुद्रा का प्रचलन भी उसके द्वारा किया गया हो।

(इ) यह मुद्रा प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा प्रसारित एक ताम्र मुद्रा प्रकार का अनुकरण है, जिसमें पृष्ठभाग एक आड़ी रेखा के द्वारा मध्य से दो भागों में विभक्त है। अधोभाग पर राजा के नाम से युक्त मुद्रालेख उत्कीर्ण है और ऊपरी भाग पर दोनों ओर पंख फैलाये गरुड़ की आकृति है, जैसा कि हमें वर्तमान-क्रम में देखने को मिलता है।

(ई) गुप्त शासकों के समकालीन किसी भी अन्य राजवंश के शासकों में से किसी ने भी स्वर्णमुद्राएँ प्रचलित करायी हो, ऐसा अभी तक ज्ञात नहीं है। अतः बहुत सम्भव है कि इन सिक्कों को कुमार गुप्त प्रथम ने प्रचलित कराया हो, तथा इन्हीं सिक्कों के अनुकरण पर दक्षिण कोशल के नल-नरेशों ने अपनी मुद्राएँ प्रसारित की हों।

स्वयं डा० अल्तेकर ने अपने इन तर्कों को संदिग्ध सिद्ध करने वाले विरोधी तर्कों का भी संकेत इसी सम्पादकीय टीप में दे दिया है। उदाहरण के लिए–अपने द्वारा दिये गये प्रथम तर्क की सम्भावना को संदिग्ध मानते हुए स्वयं उन्होंने लिखा है कि 'महेन्द्रादित्य' नाम असामान्य नहीं था, अतः अन्यान्य राजवंशों अथवा राजाओं द्वारा इसका सामान्य प्रयोग भी असम्भावित नहीं रहा होगा। इसी तरह उपर्युक्त तीसरे तर्क के सम्बन्ध में उनका कहना है कि मात्र मुद्रा प्रकार के अनुकरण को इन मुद्राओं का गुप्तों से सम्बद्धता सिद्ध करने वाला निर्णायक प्रमाण नहीं माना जा सकता।

महेन्द्रादित्य प्रकार की मुद्राओं की गुप्तों से असम्बद्धता सिद्ध करने के लिए उन्होंने अधोलिखित तथ्यों की ओर ध्यान दिलाया है।

(क) गुप्त-स्वर्ण मुद्राओं के कुछ निश्चित लक्षण हैं। किसी भी गुप्त शासक ने १०० ग्रेन से कम तौल का स्वर्ण-सिक्का प्रसारित किया हो, ऐसा ज्ञात नहीं जबकि यह सिक्का प्रकार मात्र २० ग्रेन का है। गुप्त स्वर्ण-सिक्कों की श्रृंखला में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जिसमें सिक्के का एक पट टंकपणहीन हो। इसके विपरीत इस वर्ग के उदाहरणों में एक पट को रीता छोड़ दिया गया है। अतः इन्हें किसी गुप्त राजा द्वारा प्रसारित नहीं माना जा सकता।

(ख) यदि इसे कुमारगुप्त प्रथम द्वारा प्रचलित किया गया मान लें तो कुमार गुप्त की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों द्वारा इस प्रकार को प्रचलित क्यों नहीं रखा गया?

(ग) यह सत्य है कि स्वर्णमुद्राओं का प्रचलन किसी अंचल विशेष तक सीमित न होकर समस्त राज्य के लिए होता था। यदि यह प्रकार कुमारगुप्त प्रथम

द्वारा प्रसारित किया गया था, तो इसके उदाहरण गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत अन्यत्र क्यों नहीं प्राप्त होते ?

(घ) यह निश्चित है कि इस प्रकार के सिक्कों का प्रचलन केवल दक्षिण कोशल तक सीमित था, तथा ऐसे प्रमाणों का नितान्त अभाव है जिनसे यह सिद्ध किया जा सके कि कुमारगुप्त प्रथम का प्रत्यक्ष शासन इस क्षेत्र पर स्थापित था।

ऐसी स्थिति में इन सिक्कों के कुमारगुप्त प्रथम द्वारा संचालित कराये जाने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। समस्त तथ्यों पर विचार करने के उपरान्त डा० अल्तेकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये सिक्के दक्षिण कोशल के किसी स्थानीय शासक द्वारा प्रचलित कराये गये होंगे।

डा० मिराशी[1] ने डा० अल्तेकर द्वारा दिये गये उपर्युक्त तर्कों से अपने को सुरक्षित बनाये रखते हुए इन मुद्राओं को राजर्षि-तुल्य-कुल के शासकों द्वारा प्रसारित किया गया माना है। उन्होंने महेन्द्रादित्य को कुमारगुप्त प्रथम का विरुद्ध बताया है तथा भीमसेन द्वितीय के आरंग ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण गुप्त संवत् की तिथि को आधार मान कर राजर्षि तुल्य कुल को गुप्तों का अधीनस्थ सामन्त-वंश स्वीकार किया है। उनका मत है कि महेन्द्रादित्य प्रकार के सिक्के इस वंश के भिन्न-भिन्न नरेशों द्वारा प्रसारित कराये गये हैं। जिन सिक्कों पर 'हे' अक्षर के नीचे "स" अथवा "श" अक्षर मिलते हैं, उन्हें वे शूर द्वारा प्रचलित कराया गया मानते हैं। इसी तरह "द" एकाक्षर वाले सिक्कों का सम्बन्ध वे दयितवर्मन से स्थापित करते हैं। इस तरह उन्होंने इन मुद्राओं को कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य के नाम पर उनके सामन्त शासकों द्वारा अपने प्रशासन क्षेत्र की सीमा के अन्तर्गत प्रचलन के लिए प्रसारित करना सम्भाव्य ऐतिहासिक सत्य माना है। डा० अल्तेकर डा० मिराशी द्वारा प्रस्तुत मत को सम्भव मानते हुए भी इसे अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार करना संदिग्धताओं से परे नहीं मानते।

श्री बालचन्द्र जैन ने चांदा के भंडारा ग्राम से प्राप्त मुद्राओं को प्रकाशित करते समय यह मत अभिव्यक्त किया था कि इन सिक्कों का महेन्द्रादित्य दक्षिण कोशल का का स्थानीय शासक रहा होगा। उन्होंने इसे शरभपुरीय राजवंश से सम्बद्ध करते हुए इसके राजत्वकाल को नरेन्द्र और प्रसन्नमात्र के राजत्वकाल के मध्य में स्थिर माना था। इतना ही नहीं श्री जैन ने इन सिक्कों के जिन एकाक्षरों को डा० मिराशी ने राजर्षि-तुल्य-कुल के शासकों के व्यक्तिगत नाम से सम्बन्धित बताया, उन्हें टकसाल का विशेष मुद्राचिन्ह अथवा राजा के राजत्वकाल की वर्ष-गणना का सूचक माना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अभिलेखिक साक्ष्यों को आधार मान कर नरेन्द्र एवं प्रसन्नमात्र को परस्पर अभिन्न स्वीकार किये जाने की सम्भावना भी प्रस्तुत की है।[2]

परन्तु पितईबंद से प्राप्त मुद्राओं को प्रकाशित करते समय स्वयं श्री जैन ने

---

१. जे. एन. एस. आई., भाग ११, पृ. १०८–११०.

२. जे. एन. एस. आई. जिल्द १६, पृ. २१५–२१८.

अपनी उक्त धारणा को असम्भव तथा असंगतिपूर्ण मान कर त्याग दिया है । अब वे महेन्द्रादित्य को कुमारगुप्त प्रथम तथा क्रमादित्य को स्कन्दगुप्त मानना समीचीन ठहराते हैं ।[1]

समस्त तथ्यों पर विचार करते हुए श्री पी० एल० मिश्र ने इन स्वर्णमुद्राओं के महेन्द्रादित्य तथा गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित दक्षिण कोशल के महेन्द्र को एक-दूसरे से अभिन्न माना है । परन्तु वे इसका सम्बन्ध दक्षिण-कोशल के प्रारम्भिक नलवंश से स्थापित करते हैं तथा इसे ज्ञात नलवंशी नरेशों का पूर्वज स्वीकार करना वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा उपयुक्त मानते हैं ।[2]

श्री निसार अहमद ने इन सिक्कों के महेन्द्रादित्य तथा क्रमादित्य को कथा-सरित्सागर में उल्लिखित महेन्द्रादित्य तथा उसका उत्तराधिकारी विक्रमादित्य माना है ।[3]

लेखक ने अपने शोध ग्रन्थ-एन्श्येण्ट हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दक्षिण कोशल[4] में उपर्युक्त समस्त मान्यताओं की सम्भावनाओं अथवा असम्भावनाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है, तथा उन्हें समस्त ऐतिहासिक घटनाक्रमों एवं प्राप्त तथ्यों के आधार पर त्याज्य ठहराया है । लेखक इन सिक्कों के महेन्द्रादित्य को समुद्रगुप्त द्वारा पराजित तथा पुनः स्थापित दक्षिण कोशल के महेन्द्र (कोसलकमहेन्द्र) से अभिन्न स्वीकार करना सर्वाधिक सम्भव ऐतिहासिक सत्य मानता है । लेखक का दृढ़ विश्वास है कि इस महेन्द्रादित्य एवं क्रमादित्य को पुराणों में उल्लिखित मेघवंश से सम्बद्ध मानना सर्वथा समीचीन होगा । पौराणिक साक्ष्यों की इस सन्दर्भ में प्रामाणिकता को विश्वसनीय निरूपित करते हुए लेखक ने बम्हनी ताम्रपत्र से ज्ञात मेकल के पाण्डव वंश, महेन्द्रादित्य और क्रमादित्य के मेघवंश तथा महाकान्तार के नलवंश को एक-दूसरे का समकालीन माना है तथा इन तीनों राजवंशों का प्रवीर अर्थात् प्रवरसेन प्रथम एवं उसके चारों पुत्रों की मृत्यु के बाद अपना स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व निर्माण करना सम्भावित ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार किया जाना उचित ठहराया है ।

महाशिवतीवरदेव का राजिम से प्राप्त ताम्रपत्र लेख[5] :

यह ताम्रपत्र लेख सन् १७८५ ई० में राजिम के तत्कालीन मालगुजार श्री हनुमन्तराव महाडिक को राजीव लोचन मन्दिर के समीपवर्ती भूमि पर खुदाई करते

---

१. जे. एन. एस. आइ. २२, पृ. १८४–१८७.

२. आइ. एच. यू. भाग ३७, क्रम १, पृ. २३–३०.

३. जे. एन. एस. आइ जिल्द २६, पृ. ३१–३९.

४. लेखक को इस शोधग्रन्थ पर जबलपुर वि. वि. से पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त हुई है । यह अभी अप्रकाशित है ।

५. चित्र फलक–६ । मूल पाठ के लिये देखें—परिशिष्ट १.

हुए जमीन की ऊपरी सतह से लगभग ५-६ फुट नीचे प्राप्त हुआ था, जिसे उन्होंने मन्दिर से सम्बन्धित लेख मानकर पुजारियों को सौंप दिया। आज भी यह लेख मन्दिर के भण्डार में संगृहीत है। सर्वप्रथम सन् १८२५ ई० में विल्सन महोदय ने जनरल आफ दी एशियाटिक रिसर्चेज, जिल्द १५ में इसे प्रकाशित किया। पश्चात् एलेक्जेण्डर कनिंघम ने आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट आफ इण्डिया जिल्द १७ (सन् १८८४ ई०) में इसका पुनः प्रकाशन किया एवं इसके ऐतिहासिक महत्व को सामने लाने का कार्य किया। कालान्तर में डा० फ्लीट ने "कार्पस इन्सक्रिप्शनस् इण्डिकेरम्"—जिल्द तीन में गुप्तकालीन लेखों में इसकी गणना करते हुए इसे प्रकाशित किया।

इस ताम्रपत्र में तीन पत्ते हैं। प्रत्येक पत्ता लम्बाई में लगभग ९" तथा चौड़ाई में लगभग ५" का है। तीनों पत्र एक राजमुद्रायुक्त छल्ले से नत्थी हैं। राज-मुद्रा युक्त छल्ला तथा तीनों पत्रों को मिलाकर इसका कुल वजन लगभग साढ़े पाँच पौंड है।

यह ताम्रपत्र लेख-पेटिका शीर्षयुक्त ब्राह्मी लिपि में है। इस लेख की भाषा संस्कृत है। लेख का प्रारम्भ एक श्लोक से होता है, तथा अन्त में छः शापाशीर्वादात्मक श्लोक हैं। इसकी भाषा सन्तुलित, अलंकारपूर्ण, समास बहुल और लम्बे वाक्यों तथा अपनी शैलीगत विशिष्टता से बाण की भाषा-शैली तथा शिल्प-विधान का स्मरण दिलाने वाली है।

प्रारम्भिक श्लोक में ही राजा का नाम 'श्रीमत्तीवरदेव' दिया हुआ है। इसके बाद की पंक्ति में श्रीपुर का नामोल्लेख है, जहाँ से यह ताम्रशासन प्रसारित किया गया है। बाद की पन्द्रह पंक्तियों में तीवरदेव की राजनीतिक दृढ़ता, अनुल्लंघनीय शासन-व्यवस्था, तथा उसके व्यक्तिगत गुणों एवं योग्यताओं का अत्यन्त आलंकारिक ढंग से वर्णन किया गया है। सोलहवीं एवं सत्रहवीं पंक्ति में इसके पिता का नाम नन्द-देव एवं पितामह का नाम इन्द्रबल दिया हुआ है।

तीवरदेव के बलौदा एवं बोण्डा से प्राप्त ताम्रपत्रों में "श्रीनन्नदेवस्यतनयः" वाक्यांश के बाद 'प्राप्तसकलकोसलाधिपत्यः' पद उत्कीर्ण मिलता है, परन्तु राजिम ताम्रपत्र लेख में इसका उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस ताम्रपत्र को उत्कीर्ण करने वाले की भूल के कारण ही उक्त पद अलिखित रह गया है, परन्तु लेख के मूलरूप में इस पद का समाविष्ट रहना पूर्ण सम्भावित तथ्य है।

अट्ठारहवीं पंक्ति में राजा को परम वैष्णव कहा गया है। इसके बाद की छः पंक्तियों में–तीवरदेव द्वारा ज्येष्ठ मास की द्वादशी के दिन भारद्वाज गोत्र और वाजस-नेय माध्यन्दिन शाखा के ब्राह्मण–गौरीदत्त के दो पुत्रों-भवदत्त और हरदत्त को माता-पिता और स्वयं के पुण्यों की वृद्धि के लिए 'पेण्ठाम-भुक्ति' में स्थिति 'पिम्परीपद्रक' नामक ग्राम का जलधारापूर्वक दान करने का उल्लेख है।

अन्तिम पंक्तियों में शापाशीर्वादात्मक श्लोक हैं। अन्त में प्रवर्धमान विजय राज्य के सातवें वर्ष के कार्तिक मास की अष्टमी के दिन इसके उत्कीर्ण किये जाने का उल्लेख है।

सन्नद्ध राजमुद्रा लगभग "३ १/५"" के व्यास की है। इस राजमुद्रा के मुखभाग को एक उभरी हुई ग्राड़ी रेखा के द्वारा दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। ऊपर–दोनों पार्श्वों में विस्तृत पंखयुक्त गरूड़ की बैठी हुई मूर्ति उत्खचित है। गरूड़ दोनों हाथों में क्रमशः एक-एक नाग को उनके फन के पास से पकड़े हुए है। गरूड़ के दाहिने पार्श्व में चक्र और बांएँ पार्श्व में शंख है। गरूड़, शंख एवं चक्र से युक्त इस विशिष्ट प्रतीक का यथावत ग्रालेखन महेन्द्रादित्य, क्रमादित्य तथा प्रसन्नमात्र के सिक्कों पर भी मिलता है। राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार-प्रकोष्ठद्वार (गोपुरम्) के मध्य वाले सिरदल के ललाटबिम्ब पर भी गरूड़ का इसी विशिष्ट मुद्रा में रूपायन है। मध्यवर्ती ग्राड़ी रेखा के नीचे मुद्रालेख—

श्रीमत्तीवरदेवस्य कोसलाधिपतेरिदम्
शासनं धर्मवृद्ध्यर्थं स्थितमाचन्द्रतारकम् ॥

उत्कीर्ण है।

इस ताम्रपत्र में ग्राये स्थान-नाम जैसे—पेण्ठाम भुक्ति तथा पिम्परीपद्रक ग्राम की पहचान नहीं हो सकी है। परन्तु यदि पिम्परीपद्रक ग्राम की समता राजिम के समीपस्थ ग्राम पिपरौद से स्थापित किया जाना सम्भव हो सका तो यह माना जा सकता है कि महाशिव तीवरदेव के राजत्वकाल में राजिम तथा उसके ग्रासपास के क्षेत्र को सम्मिलित कर—पेण्ठाम भुक्ति नामक प्रशासनिक इकाई का निर्माण किया गया था। इस लेख के पिम्परीपद्रक ग्राम की पहचान वर्तमान पितईबंद से करना भी ग्रसम्भावित प्रतीत नहीं होता। इस स्थिति में भी राजिम का पेण्ठाम भुक्ति में स्थित होना सिद्ध है। यहाँ पांडुका ग्राम के ऐतिहासिक महत्व के सम्बन्ध में उल्लेख करना ग्रनुचित न होगा। पेण्ठाम सम्भवतः वर्तमान पाण्डुका है।

नलवंशी नरेश विलासतुंग का राजीवलोचन मन्दिर शिलालेख :

राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप की बायीं ग्रोर की पार्श्वभित्ति पर एक शिलालेख जुड़ा है। यह शिलालेख ३ फुट ८ इंच चौड़ा तथा १ फुट ४ इंच ऊँचा है। सोमवंशी नरेशों के समय के शिलालेखों के समान ही इस शिलालेख की भी लिपि कुटिलाक्षर में है। परन्तु इसके ग्रक्षरों का सूक्ष्म ग्रध्ययन करने पर इनमें से कई ग्रक्षरों का पूर्वकालिक नागरी लिपि के सन्निकट होना प्रमाणित है।

यह लेख २२ पंक्तियों में बद्ध है तथा इसकी रचना पद्य रूप में है। पूरा लेख २९ श्लोकों में निबद्ध है।

यद्यपि इस लेख की प्रारम्भिक सूचना हमें एशियाटिक रिसर्चेज जिल्द १५ (पृष्ठ ५०५-५११) में प्रकाशित मिलती है तथा कनिंघम, कजिन्स, लांगहर्स्ट ग्रादि पुरातत्ववेत्ताग्रों ने इसका उल्लेख भी किया है, परन्तु इसका संक्षिप्त पर विश्वसनीय विवरण डा० डी. ग्रार. भण्डारकर द्वारा पहली बार प्रस्तुत किया गया। डा० भण्डारकर के द्वारा दिये गये विवरण को ही ग्राधार मानकर डा० हीरालाल ने इसका विवरण ग्रपने ग्रन्थ "दी डिस्क्रिप्टिव लिस्ट ग्राफ इन्स्क्रिप्शनम् इन सी० पी० एण्ड बरार" में

दिया है। कालान्तर में डा० मिराशी ने इस लेख के ऐतिहासिक महत्व को ध्यान में रखकर पूर्ण मनोयोग के साथ इसे जाँचा और प्रकाशित किया है। वस्तुतः डा० मिराशी के प्राचीन भारतीय लिपियों के सम्यक् ज्ञान, संस्कृत भाषा में प्रौढ़ता तथा दक्षिण-कोशल के इतिहास के गहन ज्ञान से ही इस लेख का विशुद्धरूप में सम्पादन किया जाना सम्भव हो सका है।

इस लेख के प्रारम्भिक पाँच श्लोक स्तुतिपरक हैं। श्लोक क्रमांक ४ में विष्णु और लक्ष्मी के मध्य हो रहे संवाद के माध्यम से कथ्य का निरूपण है। श्लोक संख्या ५ में भगवान विष्णु के वामनावतार से सम्बन्धित त्रिविक्रम रूप का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया गया है। श्लोक ६ में श्लेषात्मक शैली में महाराज बिलासतुंग के वंश का गौरवगान है। श्लोक ७ में नैषध नरेश नल का वर्णन है तथा वर्तमान वंश का इससे सम्बन्ध निरूपित है। श्लोक संख्या ८ और ९ में विलासतुंग के पूर्वपुरुष (पितामह) का उल्लेख है। पृथ्वीराज की तुलना पवित्र नदी नर्मदा के सलिल से तथा पौराणिक आदर्श नरेश मान्धातृ से की गई है। श्लोक १० से १२ में विलासतुंग के पिता विरूपराज का यशोःगान है। १५ से १७ वें श्लोक में सम्भवतः विलासतुंग की कीर्ति का वर्णन रहा है, परन्तु लेख का यह अंश अत्यधिक टूटे-फूटे तथा घिसे हुए होने के कारण अपाठ्यप्राय हो चला है। श्लोक क्रमांक १९ से २२ तक विष्णु के विशाल मन्दिर के निर्माण किये जाने का तथा इस मन्दिर के कलात्मक सौन्दर्य का वर्णन है। श्लोक २० में कहा गया है कि स्वर्ग के सुखों का आतिथ्य प्राप्त करने वाले (स्वर्गवासी) पुत्र के पुण्य की वृद्धि के लिए विष्णु का यह ऊँचा स्थान बनवाया–(स्थानुमुच्चैर्विष्णोः पुण्याभिवृद्ध्यै त्रिदशजनसुखातिथ्यभाजः सुतस्य ॥)। इस श्लोक से विदित होता है कि सन्दर्भित मन्दिर का निर्माण स्वयं महाराज विलासतुंग के द्वारा कराया गया। आगे के श्लोकों में भावी नरेशों को इस मन्दिर की रक्षा तथा उसकी श्रीवृद्धि की चिन्ता करने का निर्देश है।

सत्ताईसवें श्लोक में प्रशस्तिकार दुर्गगोल का नामोल्लेख है। इसे राजा के लिए बन्धु, भृत्य, मित्र तथा पुत्र के समान कहा गया है। उन्तीसवें श्लोक में दुर्गहरित नामक महान शिल्पी के द्वारा इसे उत्कीर्ण करने का उल्लेख है।

इस शिलालेख में तिथि उत्कीर्ण नहीं है। परन्तु विद्वानों ने लिपि के आधार पर इसका सम्भावित समय निर्धारित करने का प्रयास किया है। कनिंघम ने इसे ८वीं-९वीं शती का माना था।[1] डा० भाण्डाकर ने इसका समय ८वीं शती के मध्य चरण में स्वीकार करना समीचीन माना है।[2] डा० हीरालाल ने डा० भण्डारकर द्वारा प्रस्तुत निर्णय को ही मान्य ठहराया है।[3] डा० मिराशी ने इसका समय ७०० ई. स. के आसपास निर्धारित किया है।[4] वर्तमान में सामान्यतः विद्वान डा० मिराशी के

---

१. आर्क. सर्वे रिपोर्ट आफ इण्डिया जिल्द १७, पृ. ७.
२. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्क. सर्वे आफ इण्डिया १९०३–०४ पृ. ४८.
३. डेस्क्रीप्टिव लिस्ट आफ इन्स. इन सी. पी. एण्ड बरार पृ.
४. एपि. इण्डिया जिल्द २७ पृ. ४९–५८.

द्वारा आकलित तिथि को ही सही मानते हैं। सोमवंशी नरेश महाशिवगुप्त बालार्जुन के शिलालेखों की लिपि में तथा इस लेख की लिपि में घनिष्ट एकरूपता है। अतः यह कहना उचित होगा कि इस शिलालेख को महाशिवगुप्त बालार्जुन के राजत्व काल की समाप्ति के थोड़े ही वर्षों के अनन्तर में उत्कीर्ण कराया गया होगा।

इस शिलालेख से नलवंशी नरेश विलासतुंग की राजनीतिक सफलताओं के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती। यदि इसमें राजनीतिक महत्व का विषय वर्णित भी रहा होगा, तो वह अंश टूट-फूट जाने तथा घिस जाने के कारण वर्तमान में अपाठ्य हो चला है। परन्तु इतना निश्चित है कि इस वंश ने दक्षिण कोशल के सोमवंशी नरेशों से कोशल का राज्य प्राप्त किया होगा। डा० मिराशी की धारणा है कि सोमवंशियों के पतन के लिए तत्कालीन दो शक्तियाँ समान रूप से जिम्मेदार रही हैं। कोशल के दक्षिण प्रदेश से उनकी सम्प्रभुता का विनाश नलवंशी विलासतुंग अथवा उसके पूर्व पुरुष विरूपराज या पृथ्वीराज के हाथों हुआ तथा उत्तरी प्रदेश से उन्हें दक्षिण के बाणों के कारण हटना पड़ा। परन्तु लेखक की वैयक्तिक धारणा दक्षिण-कोशल पर बाणों के आधिपत्य से सम्बन्धित मान्यता के विपरीत है। अपनी इस धारणा के कारणों पर लेखक ने अपने शोध-ग्रन्थ 'ऐन्शियेण्ट हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दक्षिण-कोशल' में सूक्ष्म विवेचन किया है। विषयान्तर भय से यहाँ पर केवल अन्तिम मत का उल्लेखमात्र ही यथेष्ट है।

इस नलवंश का सम्बन्ध दक्षिण कोशल के प्रारम्भिक नलवंश से स्थापित किया जाता है। डा० मिराशी का मत है कि सोमवंशियों को पराजित करने के पश्चात् विलासतुंग तथा उसके दोनों पूर्वपुरुषों ने सिरपुर को ही अपनी राजधानी बनाया होगा।

इस अभिलेख में विलासतुंग द्वारा अपने स्वर्गवासी पुत्र की पुण्य-स्मृति में विष्णु के जिस विशाल मन्दिर के निर्माण कराने का उल्लेख है, उसकी समता सामान्यतः राजीवलोचन मन्दिर से की जाती है। इस सन्दर्भ में डा० मिराशी के विचार विशेष उल्लेखनीय हैं। उनका कहना है कि राजीवलोचन मन्दिर तथा सिरपुर के लक्ष्मण देवल (सोमवंशी नरेश महाशिवगुप्त बालार्जुन के राजत्वकाल में उसकी माता वासटा द्वारा बनवाया गया विष्णु मन्दिर) की स्थापत्य-योजना में जो मौलिक अभिन्नता दिखाई पड़ती है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि विलासतुंग ने राजिम में मन्दिर बनाने के लिए सिरपुर के स्थापत्यकों को नियोजित किया होगा और इन लोगों ने लोकप्रसिद्ध प्राप्त अपनी पूर्व निर्मिति के अनुकरण पर राजीवलोचन मन्दिर का निर्माण किया होगा।

छत्तीसगढ़ क्षेत्र में प्राचीन मन्दिर-वास्तु के विकास का जो ऐतिहासिक क्रम प्राप्त है उससे डा० मिराशी की यह धारणा सही प्रतीत होती है।

कुलेश्वर महादेव मन्दिर के महामण्डप में संरक्षित शिलालेख :

कुलेश्वर महादेव मन्दिर के महामण्डप की पार्श्व भित्ति पर एक शिलालेख

लगा हुआ है। इसकी लिपि राजीवलोचन मन्दिर के उपर्युक्त विलासतुंग वाले शिलालेख की लिपि से परिवर्तीकालीन है। यह तथ्य स्थूल रूप से ही इन दोनों उदाहरणों की लिपियों को देखने से ज्ञात हो जाता है। इस लेख में कुटिलाक्षर के शनैः शनैः परित्याग किये जाने तथा नागरी के प्रारम्भिक रूप में स्वीकार करने का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। लिपि के इस विकासक्रम को ध्यान में रखकर इस शिलालेख का ८वीं - ९वीं शताब्दी में उत्कीर्ण किया जाना स्वीकार किया जाता है।

यह लेख कुल २० पंक्तियों में निबद्ध है। अत्यधिक घिसे हुए होने के कारण वर्तमान समय तक इसे पढ़ा नहीं जा सका है। डा० हीरालाल ने कठिन श्रम के बाद पाँचवीं पंक्ति में "श्री संगम" शब्द को पढ़ने में सफलता पायी थी। इस एक शब्द-मात्र से राजिम के सांस्कृतिक इतिहास के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। डा० हीरालाल के इस कथन को अस्वीकार करने के लिए कोई कारण नहीं है कि इस अभिलेख में आया यह 'श्री संगम' नाम राजिम पर महानदी और पैरी नदी के संगम के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'श्री संगम' नामाभिधान से इसके धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्व का अनुमान किया जा सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि राजिम तथा छत्तीसगढ़ क्षेत्र के अन्तर्गत प्राप्त किसी भी शिलालेख अथवा ताम्रपत्रलेख में राजिम स्थान नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। यहाँ भी हम जिन लेखों का उल्लेख कर रहे हैं, उनका राजिम से अथवा यहाँ के किसी प्राचीन स्मारक से सम्बन्ध स्थापित करने का एकमात्र आधार सम्बन्धित लेखों की प्राप्ति सम्बन्धी स्थिति पर आकलित धारणा है। इस सन्दर्भ में अभी हाल ही में रायपुर से प्राप्त शिलालेख अपवादरूप सिद्ध हुआ है। इस शिलालेख में राजिम को 'राजीव-नयन' नाम से सम्बोधित किया गया है। यदि कुलेश्वर महादेव मन्दिर के महामण्डप के शिलालेख का पढ़ पाना सम्भव हो सका तो इससे राजिम के धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होने की आशा है।

राजिम मन्दिर के स्तम्भों पर उत्कीर्ण यात्री लेख :

पवित्र एवं महत्वपूर्ण तीर्थस्थल होने के कारण भारत के विभिन्न भागों से समय-समय पर यात्री राजिम आते रहे हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने यहाँ के मन्दिरों के स्तम्भों पर अपना नाम उत्कीर्ण करा दिया है।

इस प्रकार का एक यात्री 'श्रीलोकबल' था जिसका नाम रामचन्द्र मन्दिर के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इस नाम लेख की लिपि प्रारम्भिक नागरी होने से इसे ८वीं - ९वीं शती का माना जा सकता है।

राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप से स्तम्भों पर तथा प्राकार में प्रवेश के लिए बनाये गये प्रवेशद्वार के अन्तःप्रकोष्ठ के स्तम्भ पर कनिंघम ने दस व्यक्तियों का नाम उत्कीर्ण होना बताया है। वे नाम हैं—श्री विदेशादित्य, श्री पूर्णादित्य, सलोढ़-तुंग एवं भाण देवी, पूर्णादित्य, सलोणतुंग, श्री मालादेवी, वण्डाश्वधण्डा, श्री वकरा-धवलं, श्री भगप्ति एवं श्री रत्नपुरुषोत्तम।

इनमें कुछ अलंकरण-युक्त शंख लिपि में हैं। इस लिपि का प्रचलन इस समय उत्तरभारत में रहा है। अतः स्पष्ट है कि इस लिपि में नाम उत्कीर्ण कराने वाले लोगों का सम्बन्ध उत्तर भारत से था।

लिपि को यदि आधार मान लें तो कहना होगा कि ये नाम लगभग ७वीं शती से लेकर ९वीं शती के मध्य उत्कीर्ण कराये गये हैं।

जगपालदेव का राजीवलोचन मन्दिर शिलालेख[1] :

राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप में नल नरेश विलासतुंग के पूर्वोक्त शिलालेख के बाजू में एक दूसरा शिलालेख उसी पार्श्वभित्ति पर जड़ा हुआ है। इस शिलालेख की भी प्रारम्भिक सूचना विल्सन द्वारा जरनल आफ एशियाटिक रिसर्चेज, जिल्द १५ में दी गयी है। पश्चात् बैंगलर एवं कनिंघम द्वारा इसका उल्लेख आर्के० सर्वे रिपोर्ट आफ इण्डिया के क्रमशः सातवें तथा सत्रहवें जिल्द में किया गया है। इस शिलालेख का प्रथम सम्पादन डा० किलहार्न द्वारा किया गया। पश्चात् डा० मिराशी द्वारा इसका पुर्नसम्पादन किया गया है।[2]

यह शिलालेख २ फुट साढ़े तीन इंच चौड़ा तथा १ फुट एक इंच ऊँचा है। सम्पूर्ण लेख १९ पंक्तियों में निबद्ध है।

पंक्ति का प्रारम्भ गद्य में है। परन्तु एक वाक्य के बाद शेष प्रशिस्ति पद्य बद्ध है। श्लोकों की संख्या २६ है। लेख का अन्तिम चरण पुनः गद्यात्मक है। इस प्रशस्ति का प्रमुख उद्देश्य जगपाल (जगसिंह-पंक्ति १० में उल्लिखित) द्वारा राम मन्दिर के निर्माण कराने तथा उसके नैवेद्य के लिए शाल्मलीय ग्राम के दान का उल्लेख करना है। लेख की भाषा संस्कृत है। यह लेख भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों से भरा पड़ा है।

लेख का प्रारम्भ "औं नमो नारायणाय" इस अष्टाक्षर मंत्र से होता है। पश्चात् प्रारम्भिक गद्य खण्ड में ठक्कुर साहिल्ल का उल्लेख है। इसे राजमालकुल का तिलक, पंचहंसकुल का अनुरंजक, तथा पंचमहाशब्द की उपाधि से अलंकृत कहा गया है। लेख ठक्कुर साहिल्ल को वडहर देश का रहने वाला बताता है। कनिंघम ने राजमाल वन्श नाम से ही वर्तमान स्थान नाम राजिम की उत्पत्ति सम्बन्धी धारणा को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया है।

प्रथम श्लोक में साहिल्ल द्वारा विवरभूमि को जीतने का वर्णन है। श्लोक क्रमांक २, ३ एवं ४ में साहिल्ल के छोटे भाई वासुदेव तथा उसके तीन पुत्रों भायिल देसल, और स्वामी का नामोल्लेख है। इनके द्वारा भट्टविल देश तथा विहरा देश को जीतने का भी वर्णन इन श्लोकों में है। पाँचवें एवं छठे श्लोकों में स्वामी के पुत्र जयदेव एवं देवसिंह का नाम उल्लिखित है। इन्हें क्रमशः दाण्डोर तथा कोमो-मण्डल का जीतने बाला कहा गया है। श्लोक संख्या ७ में ठक्कुराज्ञी उदयादेवी का

---

१. चित्रफलक ७, मूल के लिए परिशिष्ट २ देखें

२. कार्पस इन्स. इण्डि. जिल्द ४ पृ. ४५० इत्यादि।

नामोल्लेख है। श्लोक क्रमांक ८ में जगपाल को उदयादेवी का पुत्र कहा गया है। नवें श्लोक में जगपाल द्वारा मायूरिकों एवं सातवन्तों को जीतने का उल्लेख है। श्लोक क्रमांक दस, ग्यारह एवं बारह में जगपाल के आत्मगुणों तथा उसकी योग्यता आदि का वर्णन है।

तेरहवें श्लोक में उसके द्वारा अपने स्वामी जाजल्लदेव (प्रथम) के लिए तमनाल, राठ और तेरण को जीतने का वर्णन है। चौदहवें श्लोक में रत्नदेव (द्वितीय) के राजत्वकाल में उसके द्वारा तलहारी मण्डल को जीतने का वर्णन है।

श्लोक संख्या पन्द्रह, सोलह तथा सत्रह में उसके द्वारा कलचुरी नरेश पृथ्वीदेव (द्वितीय) के समय में सरहरागढ़, मचका-सिहावा, भ्रमरदेश, कान्तार, कुसुमभोग, कान्दाडोंगर, और काकरय के विजय का उल्लेख है।

यहाँ उल्लिखित स्थान नामों में से कुसुमभोग की समता डा० मिराशी ने राजिम से लगभग १८ मील दक्षिण-पश्चिम में धमतरी तहसील में स्थिति कुसुमर्रा नामक ग्राम से की है। कान्दाडोंगर-राजिम से पूर्व में विन्द्रानवागढ़ तहसील में स्थित इसी नाम का एक पहाड़ी भाग है।

अठारहवें श्लोक में उसके द्वारा बसाये गये जगपालपुर नामक नगर का वर्णन है।

श्लोक क्रमांक उन्नीस से बाईस में जगपाल के आत्मिक गुणों का वर्णन है।

बाइसवें श्लोक में उसके द्वारा राम की शोभा को प्रकाशित करने वाले प्रासाद के निर्माण करने का उल्लेख है- (रामशोभाप्रकाशाय प्रासादं कारितवानिमम्।)

श्लोक संख्या २३ में नैवेद्य के लिए शाल्मलीय नामक ग्राम के दान में देने का उल्लेख है—(साल्मलीयं नाम ग्रामं नैवेद्याय निवेदितं।)

श्लोक क्रमांक चौबीस में जगपाल के एक अनुज गाजल का तथा श्लोक संख्या २५ में उसके दूसरे अनुज जयतसिंह का एवं २६ वें श्लोक में किसी देवराज (सम्बन्ध अज्ञात) का उल्लेख है।

लेख की पंक्ति १५ में किसी मुक्तात्मा नामक स्थानपति का उल्लेख है, जिसे यम, नियम, स्वाध्याय, ध्यान और अनुष्ठान में सदैव रत रहने वाला कहा गया है।

लेख की अन्तिम पंक्तियों में इस प्रशस्ति के लेखक द्वारा आत्मपरिचयात्मक शब्दों को आबद्ध किया है। इन अन्तिम वाक्यों से ज्ञात होता है कि इस प्रशस्ति का लेखक जसानन्द था। इसके पिता का नाम ठक्कुर जनोधर था। प्रशस्तिकार ने जनोधर को—"महामाहेश्वर और परमवैष्णव" के उभय विरुदों से अलंकृत किया है। इस जनोधर को अयोध्यापुरी से आया हुआ बताया गया है।

प्रशस्ति के अन्त में कलचुरी सम्वत् ८९६ के माघ मास के शुक्ल पक्ष के रथाष्टमी की तिथि उत्कीर्ण है। इस तिथि को यह प्रशस्ति लिखी गयी थी।

इस शिलालेख का कलचुरी-कालीन दक्षिण-कोशल के राजनीतिक इतिहास

के निर्माण में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। साथ ही राजिम के प्राचीन गौरव को प्रकाशित करने में इसकी उपादेयता भी कोई कम महत्व की नहीं है। इस शिलालेख में जगपाल द्वारा राजिम में राम की शोभा को प्रकाशित करने वाले मन्दिर के निर्माण करने का उल्लेख है। सामान्यतः इतिहासकारों की यह मान्यता रही है कि जगपाल ने राजिम में किसी नये मन्दिर का निर्माण नहीं कराया, अपितु उसने राजीव लोचन मन्दिर का ही जीर्णोद्वार किया था। परन्तु यह धारणा पूर्णतया अनुमानों पर आधारित है। इसकी पुष्टि के लिए किसी भी प्रकार के तर्कसंगत प्रमाण का नितान्त अभाव है। जगपाल द्वारा मन्दिर के नैवेद्य के लिए दिये गये "शाल्मलीय" ग्राम की पहचान डा० हीरालाल द्वारा प्रस्तुत समीकरण को स्वीकार करते हुए यदि वर्तमान रोहना से स्थापित करें तथा वर्तमान में भी इसके राजीव लोचन मन्दिर से लगे होने को ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में स्वीकार करें तो भी यह प्रमाणित कर पाना असम्भव होगा कि जगपाल ने वर्तमान राजीव-लोचन मन्दिर का जीर्णोद्वार कराया था। क्योंकि इतना निश्चित है कि प्राचीन काल में इस मन्दिर को यहाँ धार्मिक तथा औत्सविक दोनों दृष्टि से विशेष महत्व प्राप्त रहा है। बहुत सम्भव है कि यहाँ के सभी प्रमुख देवालयों में एक ही वंश के व्यक्ति पुजारी रहते रहे हों, परन्तु शनैः शनैः इस वंश-परम्परा का अधिकार केवल राजीव-लोचन-मन्दिर तक ही सीमित रह गया हो। अतः सत्ता के इस संकुचन के कारण सम्पत्ति का भी केन्द्रीयकरण हो जाना असम्भव नहीं। अतः ऐसी स्थिति में शाल्मलीय की पहचान वर्तमान रोहना से स्वीकार करते हुए भी इसे यह प्रमाणित करने वाला आधार नहीं मान सकते कि जगपाल ने अपने राजत्वकाल में राजीव-लोचन मन्दिर का ही जीर्णोद्धार किया था।

इस प्रशस्ति में सर्वथा नये मन्दिर के निर्माण की बात कही गयी है न कि किसी पूर्व निर्मित मन्दिर के जीर्णोद्धार की। यद्यपि इस प्रशस्ति में भाषा-दोष भरा पड़ा है, फिर भी इसके कथ्य की सत्यता असंदिग्ध है। अतः ऐसी स्थिति में जगपाल द्वारा राजीव-लोचन मन्दिर के जीर्णोद्वार कराने का मत प्रस्तुत करना अतर्कपूर्ण तथा अनैतिहासिक कहा जायेगा। पुनश्च् विलासतुंग के अभिलेख से राजीव लोचन का विष्णु मन्दिर होना प्रमाणित है। जगपाल के प्रशस्तिकार का राम और विष्णु के व्यावहारिक अन्तर से परिचित होना भी प्रमाणित है। यह सर्वविदित है कि वर्तमान राजीव लोचन मन्दिर के गर्भगृह में प्रतिष्ठापित प्रतिमा विष्णु की है, राम की नहीं। अतः इन समस्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय लेना कि जगपाल द्वारा राजीव लोचन मन्दिर के जीर्णोद्धार कराने का वर्णन इस प्रशस्ति में नहीं है, अपितु यह प्रशस्ति लेख राम के मन्दिर निर्माण किये जाने का ही उल्लेख करता है। यहाँ इस सन्दर्भ में यह ध्यान में रखना चाहिए कि अभी भी राजिम में रामचन्द्र का प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर है। अतः बहुत सम्भव है कि जगपाल द्वारा बनवाया गया मन्दिर वर्तमान रामचन्द्र मन्दिर ही रहा हो। डॉ० किलहार्न को प्राप्त सूचनानुसार यह प्रशस्ति मूलतः रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप की पार्श्व-भित्ति में जड़ी हुई थी।

कालान्तर में लोगों ने इसे हटाकर राजीव लोचन मन्दिर के महामण्डप में लगा दिया।

राजिम के सांस्कृतिक महत्व के सम्बन्ध में जो दूसरी महत्वपूर्ण सूचना इस प्रशस्ति से मिलती है, वह है—यहाँ के स्थानपति मुक्तात्मा का व्यक्तित्व। लेख में उसके जिन आत्मिकगुणों का उल्लेख है उनसे उसका आचार्यत्व प्रमाणित होता है। अतः इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि राजिम का एक प्रमुख आचार्य-पीठ के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

तीसरी महत्वपूर्ण बात है जनोधर को एक साथ 'महामाहेश्वर तथा परम-वैष्णव' इन दो विशिष्ट विरुदों से सम्बोधित करना। यह तथ्य इस पीठ पर शैव और वैष्णव के मध्य समन्वय का प्रतीक है। यदि स्थान से सम्बन्धित प्रचलित मान्यता से इसका सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव हो सका तो ऐसी स्थिति में यह कहना होगा कि राजिम एक ऐसा स्थान रहा है जहाँ शैवों और वैष्णवों के परस्पर भेदों का अन्त हो जाता था।

इस प्रशस्ति की अन्तिम उल्लेखनीय बात है—माघ शुक्ल अष्टमी का रथाष्टमी के नाम से उल्लेख करना। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि राजिम से सम्बन्धित धार्मिक उत्सवों में बसन्त-पंचमी का विशेष महत्व रहा है। इस दिन भगवान राजीव-लोचन की प्रतिमा को रथ पर आरूढ़ कर उत्साहपूर्वक आम्रकानन में ले जाया जाता है, तथा वहाँ से आम्रमंजरियों को कलगी रूप में भगवान के सिर में अलंकृत कर रथ को पुनः वापस ले आया जाता है। इसी से यहाँ बसन्त-पंचमी को रथपंचमी भी कहा जाता है। बसन्त-पंचमी के दिन मदनोत्सव के अन्तर्गत विष्णु की पूजा का प्रचलन शास्त्रों द्वारा प्रमाणित है। अतः बहुत सम्भव है कि माघ शुक्ल पक्ष की शेष तिथियाँ भी रथ षष्ठी, रथ-सप्तमी, रथ अष्टमी आदि क्रम से सम्बोधित की जाती रही हों।

● ● ●

अध्याय : तीन

मन्दिर-वास्तु : सामान्य लाक्षणिक परिचय

राजिम के देवालय ऐतिहासिक तथा पुरातात्त्विक दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। इन्हें हम इनकी स्थिति के आधार पर अधोलिखित चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

(अ) **पश्चिमी समूह** : इसके अन्तर्गत कुलेश्वर, पञ्चेश्वर तथा भूतेश्वर महादेव के मन्दिर आते हैं।

(आ) **मध्य समूह** : इस वर्ग में राजीवलोचन, वामन, वाराह, नृसिंह, बद्रीनाथ, जगन्नाथ, राजेश्वर, दानेश्वर एवं राजिम तेलिन मन्दिर सम्मिलित हैं। ये सभी मन्दिर वर्तमान में एक ही अहाते के अन्दर हैं।

(इ) **पूर्वी समूह** : इसमें एकमात्र रामचन्द्र का मन्दिर आता है।

(ई) **उत्तरी समूह** : सोमेश्वर महादेव का मन्दिर ही इस वर्ग का एकाकी प्रतिनिधि उदाहरण है।

तिथिक्रम की दृष्टि से अभिलैखिक साक्ष्य तथा स्थापत्य शैली के आधार पर राजीव लोचन का मन्दिर यहाँ के उपलब्ध उदाहरणों में सर्वाधिक प्राचीन है। नलवंशी नरेश विलासतुंग के राजीव लोचन मन्दिर अभिलेख के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने इस मन्दिर को ८वीं शताब्दी की निर्मिति माना है।[1] इस मन्दिर के विशाल प्राकार के चारों अन्तिम कोनों पर बने वामन, वाराह, नृसिंह तथा बद्रीनाथ के मन्दिर स्वतन्त्र वास्तुरूप के उदाहरण नहीं माने जा सकते। इन मन्दिरों की मूल स्थापत्य योजना पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि ये मुख्य मन्दिर के

---

१. सर्वप्रथम बेगलर ने इस अभिलेख की २२ वीं पंक्ति में ८७० अथवा ८७९ की तिथि का उत्कीर्ण रहना घोषित किया था (आर्क. सर्वे. रि. आफ. इण्डि. भाग ७ पृ. १५२)। परन्तु बेगलर ने जिसे ८७० अथवा ८७९ की संख्या पढ़ा है वह वस्तुतः "उत्कीर्ण" शब्द है। कनिंघम ने लिपि के आधार पर इस शिलालेख को ८वीं शताब्दी का बताया है (आर्क. सर्वे. रिपो. आफ. इण्डि. भाग १७, पृ. १८)। डा. डी. आर. भण्डारकर ने इसे आठवीं शताब्दी के मध्यचरण का माना है (कजिन-प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्क. सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डि. १९०३-१९०४ पृ. ४८)। रायबहादुर हीरालाल ने डा. डी. आर. भण्डारकर के द्वारा निर्धारित तिथि का अनुमोदन किया है—(डिस्क्रिप्टिव लिस्ट आफ इन्स. इन सी. पी. एण्ड वरार–पृ. १०३)। मिराशी इसे ई. स. ७०० के आस-पास का स्वीकार करते हैं—(इपि. इण्डि. भाग २६ पृ. ५१)। डा. एम. जी. दीक्षित ने इस मन्दिर के वर्तमान वास्तु-रूप को भिन्न-भिन्न युगों में किये गये परिवर्धन-परिवर्तन की परिणति बताया है (टेम्पल्स ऐट सिरपुर एण्ड राजिम-हेरीटेज आफ इण्डियन आर्ट सीरीज २ पृ. २८ से ३० तक)।

अनुषंगी देवालय हैं। अतः ऐसी स्थिति में इन्हें राजीव लोचन के पञ्चायतन वास्तु-रूप का ही अंग स्वीकार करना अस्वाभाविक नहीं होगा। इस तरह यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि इनका निर्माण मूलतः राजीवलोचन मन्दिर के साथ साथ हुआ होगा।

कुलेश्वर महादेव मन्दिर के महामण्डप की पार्श्वभित्ति पर भी एक शिलालेख है। यह लेख अत्यधिक टूटे तथा घिसे होने के कारण अपाठ्य-प्राय है। इसकी लिपि प्रारम्भिक नागरी प्रकार की है। लिपि को आधार मान कर विद्वानों ने इसे ९वीं शताब्दी का माना है।[1] यदि इस शिलालेख की मूलतः कुलेश्वर महादेव-मन्दिर से सम्बद्धता स्वीकार कर ली जाती है, तो इस मन्दिर के निर्माण को भीइसी शताब्दी के आस-पास स्थिर करना असंगत नहीं होगा।

पंचेश्वर महादेव का मन्दिर वर्तमान में उपेक्षित तथा अरक्षित है। फलतः इसका शिखर एक तरफ से गिरता जा रहा है। यह मन्दिर ईटों का बना हुआ है। कालान्तर में लगाया गया प्लास्तर कई स्थानों पर उखड़ गया है। जिन स्थानों के प्लास्तर उखड़ गये हैं, वहाँ पर इस मन्दिर के प्रारम्भिक वास्तु का स्वरूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इन दृष्ट वास्तु-लक्षणों के आधार पर इस मन्दिर को ९वीं शताब्दी का माना जा सकता है।

रामचन्द्र-मन्दिर का वर्तमान रूप यद्यपि यथेष्ट बाद की देन भासित होता है, परन्तु यह संक्षणार्थ समय-समय पर किये गये मरम्मत आदि से उत्पन्न परिणामों की परिणति है। मूल रूप में इसकी प्राचीन कृति होना अनेकशः प्रमाणों द्वारा सिद्ध है। यदि जगपाल देव के अभिलेख में आये "राम मन्दिर" का सम्बन्ध इससे स्थापित करना सम्भव मान लिया जाय तो इसके निर्माण की तिथि १२वीं शताब्दी सिद्ध होती है।

जगन्नाथ मन्दिर तथा भूतेश्वर महादेव के मन्दिर को १४वीं शताब्दी की निर्मितियाँ स्वीकार करने के लिए यथेष्ट प्रमाण हैं।

तेलिन और सोमेश्वर महादेव के मन्दिर ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा पुरातात्विक महत्व के होते हुए भी अपने वर्तमान रूप में यथेष्ट बाद के निर्माण हैं।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजिम के देवालय सामान्यतः ८वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी के बीच के बने हुए हैं।

उपलब्ध उदाहरणों का सम्यक् रूप से पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजिम के प्रायः सभी प्राचीन मन्दिरों के निर्माण में राजीव लोचन मन्दिर की स्थापत्य शैली, वास्तु-संस्थापन प्रक्रिया तथा समान रूप-दर्शन का अनुकरण किया गया है। परिणामतः साधारण पर्यवेक्षकों की दृष्टि में यहाँ के देवालय एक ही स्थापत्य शैली के उदाहरण प्रतीत होते हैं। वस्तुतः इन मन्दिरों के वर्तमान वास्तुरूप में

---

१. कनिंघम—आर्क. रिपोर्ट-भाग १७ पृ. १५, कजिन-प्रोग्रेस रिपोर्ट १९०३-१९०४ पृ. ४८-४९, रा. ब. हीरालाल लिस्ट आफ इन्स. इन सी. पी. एण्ड बरार पृ. १०४।

विद्यमान यत्किंचित भिन्नता के बाद भी इनकी एक रूपता का प्रत्यक्ष भान हुए बिना नहीं रहता। अनुभूति की यह स्थिति इस पीठ पर कार्य करने वाले प्रारम्भिक स्थपतियों द्वारा प्रस्तुत वास्तुरूप-विधान की सर्वांग पूर्णता तथा अतिशय लोकप्रियता के कारण परवर्ती युगीन स्थपतियों द्वारा स्व-निर्मित को तत्सम रूप प्रदान करने की उत्कट अभिलाषावश किये गये सोद्देश्य अनुकरण का परिणाम है। परन्तु साथ ही इन स्थपतियों ने अपने समकालीन युग की सार्वजनीन मान्यताओं तथा विशेष उपलब्धियों को तिरस्कृत न कर, उन्हें समानान्तर क्रम में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। यह प्रयास ही राजीव लोचन मन्दिर तथा अन्य मन्दिरों के वास्तु-रूपों में दृष्टव्य भिन्नताओं का हेतु रहा है। इस भिन्नता का एक आधार और भी है। वह है स्थपतियों की वैयक्तिक रुचि, अनुभव तथा निर्मित के लिए चयन किये गये स्थल की स्थिति। इस तरह राजिम के देवालयों में एक ओर जहाँ प्राचीन दक्षिण कोशल को प्रारम्भिक मन्दिर-स्थापत्य शैली की मूलभूत विशेषताओं को संरक्षण प्राप्त हुआ, वहीं दूसरी ओर अलग-अलग युग की स्थापत्यकला की विकासमयी परम्परा को भी अत्यन्त उदारता एवं सहिष्णुता के साथ स्वीकार किया गया है। इन देवालयों के वास्तुरूपों में केवल स्थापत्य की आंचलिक विशेषताओं अथवा उपलब्धियों को ही प्रश्रय प्राप्त हुआ है, कहना उचित नहीं होगा। जिस तरह प्राचीन दक्षिण कोशल अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम की सांस्कृतिक चेतना से सद्यः प्रभावित होता रहा है, तथा सांस्कृतिक प्रवाह की इन समस्त धाराओं को परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क में लाने, उनमें समन्वय एवं सामंजस्य संस्थापन हेतु अनुकूल अवसर प्रदान करने का कार्य भी अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पादित करता रहा है, उसी तरह यहाँ की कला में भी उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी अथवा पश्चिमी भारत में विकसित विविध कला-रूपों, शैलियों तथा कलातत्त्व के विविध मानों, उनकी मौलिक विशेषताओं एवं युग-विशेष की विशिष्ट प्रवृत्तियों अथवा उपलब्धियों को स्व-अभिव्यक्ति का अवसर मिला है, साथ ही उन्हें एक दूसरे के सन्निकट लाकर उनमें समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करने के महान कार्य का सफलतापूर्वक परिनिर्वाह किया गया है। राजिम-मन्दिरों का वास्तु-शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस अंचल के प्राचीन स्थपतियों ने उत्तर-भारतीय तथा दक्षिण-भारतीय स्थापत्य-शैली को परस्पर निकट लाकर उनमें समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करने का जो गुरुतर दायित्त्व उठाया था, उसे मूर्त रूप देने हेतु उन लोगों ने राजिम का चयन किया। स्थान का यह चयन इसकी सांस्कृतिक प्रसिद्धि के कारण किया गया जाना पड़ता है। राजीवलोचन मन्दिर में उत्तर भारतीय नागर शैली और दक्षिण भारतीय द्रविड़ शैली का अद्भुत समन्वय है।

उपरोक्त प्रभावों के होते हुए भी यह कहना सर्वथा अनुपयुक्त होगा कि राजिम के देवालय अपने पूर्ववर्ती उदाहरणों की निष्प्राण प्रतिकृति मात्र हैं, अथवा उनमें अपनी कोई मौलिकता नहीं है। वस्तुतः इन देवालयों के निर्माता स्थपतियों की वैयक्तिक आस्था, अभिरुचि एवं तकनीकी सूझ-बूझ के सम्यक् निर्देशन द्वारा पूर्व-

वर्ती उदाहरणों से प्रभावित होते हुए भी इन निर्मितियों में अपनी मौलिकता है, और इस मौलिकता से उस सम्प्रेषणशीलता का अभ्युदय होता है, जिसके आवेग की अनुभूति से समस्त निर्मिति सजीव हो जाती है। इन देवालयों में स्थपतियों की लगभग चार शताब्दियों की कला-साधना का इतिहास मुखरित है। कला-सृजन के इस दीर्घ-सत्र में वास्तुविदों की कई पीढ़ियाँ एक के बाद एक निरन्तर साधनारत रही हैं। अनगढ़े प्रस्तर खण्डों को कोर-संवार कर विविध अभिप्रायों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली छेनी को थामने वाले प्रत्येक हाथ में एक ओर जहाँ उत्तराधिकार में प्राप्त वैभवशाली परम्परा संरक्षित रही है, वहीं दूसरी ओर उसकी अपनी सृजनात्मक वृत्तियाँ भी पूर्ण अनुशासित तथा संस्कारित रूप में संवर्धित होती रही हैं। इस तरह राजिम के मन्दिरों में प्राचीन दक्षिण कोशल की मन्दिर-वास्तुकला का लगभग ८वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक का विकासक्रम रूपायित है।

वर्तमान में यहाँ के सभी मन्दिरों पर अधिष्ठान से शिखर-पर्यन्त-अन्दर तथा बाहर दोनों ओर प्लास्तर का मोटा पर्त है। यह कार्य इन मन्दिरों के व्यवस्थापकों द्वारा इन्हें सुरक्षित रखने तथा इनमें प्रकृति के घातों-प्रतिघातों से संघर्ष करने की क्षमता प्रदान करने के उद्देश्य से किया गया है। इसमें संशय नहीं कि इससे मन्दिरों की दृढ़ता में वृद्धि हुई है तथा उनके संरक्षण में भी सफलता मिली है, पर इस अतिरिक्त समायोजन के फलस्वरूप इनके वास्तु-संस्थापन की मूल प्रक्रिया की समस्त विशेषाताएँ, विभिन्न अंगों के विन्यासक्रम में प्रयुक्त अनेकों तकनीकी विशिष्टताएँ, और समस्त निर्मिति में अलौकिकता, अभिरामता एवं सजीवता उत्पन्न करने के लिए आलेखित बंध, बाड, तरंग, गोलक, गवाक्ष, थर, आमलक, कल्पलता आदि विविध कलात्मक अलंकरण एवं अभिप्राय तथा इन्हें मूर्त करने वाली रेखाओं की खूंदबद्धता, लयात्मकता, गहनता, गम्भीरता आदि समस्त निर्देशन चूना-सीमेंट एवं रेत के प्लास्तर द्वारा गर्भस्थ कर लिये गये हैं। इस के अतिरिक्त समय-समय पर किये गये मरम्मत आदि के कार्यों के परिणामस्वरूप मूल-स्थापत्य-व्यवस्था में भी विकृतियाँ आ गयीं हैं, जिनके कारण कभी-कभी अध्ययन में भ्रामक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कुलेश्वर महादेव का मन्दिर इसका उदाहरण है। सन् १८७३-७४ ई० में जब बेगलर ने इस मन्दिर को देखा था, तथा इसका जैसा विवरण उन्होंने दिया है, उसमें और इसके वर्तमान रूप में यथेष्ट अन्तर आ गया है। इतना ही नहीं अपितु तत्कालिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए इन मन्दिरों में ही अथवा उससे सट कर कई कक्ष आदि बना लिये गये हैं। फलतः सम्मुख-दर्शन में इन मन्दिरों के प्राचीन वास्तु-रूप-विन्यास की सूक्ष्मता एवं उनके कलात्मक सौष्ठव अज्ञात रह जाते हैं और हमें स्थूल-प्लास्तर द्वारा अप्रतिहत यत्किंचित लक्षणों पर ही आश्रित रहना पड़ता है।

राजिम-मन्दिरों के स्थापत्य रूप का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन करने पर हमें इनके निर्माता स्थपतियों की कला-संकल्पना सम्बन्धी मौलिक भावना में विलक्षण साम्य दिखाई पड़ता है। फलतः इन मन्दिरों के आंगिक-विन्यास तथा स्थापत्य शैली में सूक्ष्म भेदों पर से यदि दृष्टि हटा लें, तो प्रायः एक रूपता प्राप्त होती है।

गर्भ सूत्रीय व्यवस्था (भू-विन्यास) में एक को छोड़कर शेष समस्त उदाहरणों में—महामण्डप, अन्तराल एवं गर्भगृह—ये तीन प्रमुख अंग है ।[१] तेलिन मन्दिर इसका अपवाद है । इस मन्दिर में मूलतः गर्भगृह मात्र था । परन्तु वर्तमान में इसमें भी महामण्डप है, जो छत्तीसगढ़ साहू समाज द्वारा बनवाया गया है । इसे मूल मन्दिर से सम्बद्ध करने हेतु गर्भगृह में दक्षिणाभिमुख एक अन्य प्रवेश द्वार बना लिया गया है, जबकि इस मन्दिर के गर्भगृह का मूल प्रवेश द्वार पूर्वाभिमुख है । तेलिन मन्दिर में केवल गर्भगृह के निर्माण किये जाने के लिए निम्न दो कारणों का आधारभूत होना सम्भव प्रतीत होता है—

(अ) सर्वांगपूर्ण मन्दिर के निर्माण के लिए आपेक्षित परिमाण में भूमि का अभाव :

यह मन्दिर राजेश्वर महादेव मन्दिर के ठीक पीछे, लगभग उससे सटकर बनाया गया है । दोनों मन्दिरों के बीच रिक्त स्थान का परिक्षेत्र इतना कम है कि उसमें तेलिन मन्दिर के लिए महामण्डप का बनाया जा सकना नितान्त असम्भव था । यदि उपलब्ध स्थान में अन्य उदाहरणों के अनुकरण पर आंगिक-पूर्णता के लिए महामण्डप बना दिया गया होता, तो इससे समस्त निर्मिति का रूप-दर्शन समानुपातिक अंग-विन्यास के अभाव में विकलांग दिखाई देता । अतः भावप्रवण वास्तुविदों द्वारा इस मन्दिर की निर्माण-योजना में मात्र गर्भगृह का ही प्रावधान स्वीकार करना स्वाभाविक ही था ।

(आ) औत्सविक महत्व का अभाव :

यह मन्दिर वस्तुतः एक स्मारक मन्दिर है, जो एक सती नारी के स्मृति-रूप में बनाया गया था । तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं के कारण यह मन्दिर लोगों की श्रद्धा का केन्द्र बनने में सफल हुआ, परिणामस्वरूप उपासना-पीठ भी बना, पर सामान्यतः देव मन्दिरों में जिस प्रकार प्रतिदिन निर्धारित समय में अथवा विशेष पर्वों-त्यौहारों के अवसर पर जो विविध प्रकार के आयोजन तथा उत्सव आदि आयोजित किये जाने की प्रथा थी, ऐसे आयोजनों एवं उत्सवों आदि का तेलिन मन्दिर से कोई सम्बन्ध नहीं था । फलतः जिन आयोजनों अथवा उत्सवों को ध्यान में रखकर महामण्डप एवं अन्तराल आदि को मन्दिर-वास्तु के अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार किया गया था,वे अंग तेलिन मन्दिर, अर्थात् एक सती मन्दिर के लिए अर्थ-हीन थे । फलतः इन अंगों की अनुपयोगिता के कारण ही इस उदाहरण में उनका बनाया जाना निरर्थक मान परित्याज्य कर दिया गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं ।

---

१. कृपया राजीवलोचन मन्दिर, राजेश्वर मन्दिर तथा दानेश्वर मन्दिर की भूविन्यास योजना निर्देशित करने वाला चित्र क्र. ११; १४ का २, एवं १५ का २ देखें ।

वर्तमान में पञ्चेश्वर महादेव के मन्दिर में भी महामण्डप नहीं है। परन्तु इस बात को स्वीकार करने के लिए यथेष्ट कारण हैं कि जब यह मन्दिर अपनी सर्वांग-पूर्णता की स्थिति में रहा होगा, उस समय यह इस समूह के अन्य मन्दिरों के समान महामण्डप तथा अन्तराल से अवश्य ही युक्त रहा होगा। परन्तु कालान्तर में नदी की बाढ़ की चपेट में आकर इसे विकलांग होना पड़ा है। इस दृष्टि से वर्तमान में भी यह मन्दिर सर्वाधिक असुरक्षित है।

राजीवलोचन मन्दिर के विशाल प्राकार के चारों कोनों पर बने वामन, वाराह, नृसिंह तथा बद्रीनाथ के मन्दिरों में भी केवल गर्भगृह ही है। परन्तु ये चारों स्वतन्त्र प्रयोजन वाले मन्दिर न होकर राजीवलोचन मन्दिर के ही अनुषांगिक देवालय हैं। अतः इनका यह स्थापत्य रूप इनकी अनुषांगिकता के अनुरूप ही है। पञ्चायतन प्रकार के मन्दिरों में हमें अनुषांगिक मन्दिरों का ऐसा ही स्थापत्य रूप सामान्यतः देखने को मिलता है, अतः इन मन्दिरों के वर्तमान रूप को उनका मूल रूप मानते हुए, इन्हें परम्परानुरूप शैली की निर्मितियाँ स्वीकार कर सकते हैं।

समस्त मन्दिरों में दानेश्वर महादेव का मन्दिर ही एकमात्र उदाहरण है, जिसमें महामण्डप के स्तम्भों की दोनों कतारों की सीध में दो अतिरिक्त स्तम्भों की स्थापना कर महामण्डप के सपाट छत को बाहर की ओर थोड़ा विस्तृत कर नन्दि-मण्डप का निर्माण किया गया है। पूर्व मध्यकालीन मन्दिरों में विशेष कर दक्षिण भारतीय मन्दिरों में हमें मन्दिर विशेष में प्रतिष्ठित देवता-विशेष के वाहन के लिए अतिरिक्त मण्डप की संरचना का प्रमाण मिलता है, परन्तु राजिम के इस उदाहरण के अतिरिक्त प्राचीन दक्षिण-कोशल के विस्तार-क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले प्राचीन मन्दिरों में कहीं भी हमें वाहन के लिए अतिरिक्त मण्डप बनाये जाने की परम्परा का ज्ञान नहीं होता। ऐसी स्थिति में दानेश्वर महादेव का मन्दिर इस दृष्टि से विशेष महत्त्व का हो जाता है।

महामण्डप सामान्यतः स्तम्भों तथा भित्तिस्तम्भों (कुड्यस्तम्भ) की दो-दो कतारों पर आधारित सपाट छत्त वाले हैं। दानेश्वर महादेव के मन्दिर के अतिरिक्त शेष अन्य उदाहरणों में महामण्डप-गर्भगृह की दायीं-बायीं दिशा में पार्श्वभित्तियों से बन्द हैं, तथा सामने की ओर पूर्णरूप से खुले हुए हैं।

इन मन्दिरों के महामण्डपों की स्थापत्य-शैली तथा उनके वर्तमान चाक्षुष रूप को देख सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि ये गुप्त कालीन प्रारम्भिक मन्दिर वास्तु के विकासक्रम के द्वितीय चरण से सम्बन्धित जीवन्त उदाहरण हैं। निर्माण-प्रक्रिया में भिन्नता के बाद भी स्थूल दृष्टि से विचार करने पर इन मण्डपों का वास्तु-शिल्प पूर्ववर्ती दरिगृहों की स्थापत्य-शैली से प्रत्यक्षतः प्रभावित प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त आजू-बाजू से पार्श्वभित्तियों द्वारा बन्द तथा सामने से पूरे खुले मण्डपों के निर्माण में पल्लव-मण्डप-वास्तु की स्थापत्य-शैली के विशेष अनुकरण की चेष्टा दिखाई पड़ने पर भी इस पीठ पर कार्य करने वाले स्थपतियों की वैयक्तिक सूझ-बूझ तथा स्थापत्य सम्बन्धी विविध मानों को मूर्त करने में समर्थ साधना के

परिणामस्वरूप इनमें अप्रतिम मौलिकता तथा अभिराम कलात्मक भाव-प्रवणता दृष्टिगोचर होती है।

प्रायः सभी समीक्षकों की यह धारणा है कि राजीवलोचन मन्दिर का सामान्य वास्तुरूप सिरपुर के लक्ष्मण देऊल में निर्देशित स्थापत्य योजना की अनुकृति है। यद्यपि सिरपुर के लक्ष्मण-देऊल का महामण्डप नष्ट हो चुका है, परन्तु इसकी पार्श्व-भित्तियों के अधिष्ठान के अवशेष, स्तम्भों एवं भित्तिस्तम्भों (कुड्य-स्तम्भ) की बैठकी, तथा महामण्डप में प्रवेश और निर्गमन के लिए सामने-दोनों पार्श्वों में बने सोपान-मार्गों को देख कर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि यह महामण्डप राजीवलोचन के महामण्डप के ही समान रहा होगा। छत्तीसगढ़ क्षेत्रान्तर्गत विद्यमान प्राचीन मन्दिरों के वास्तुरूपों का अध्ययन तथा उनकी निर्माण-तिथि पर विचार करने से इस धारणा को स्वीकार करने में किसी प्रकार की असंगति प्रतीत नहीं होती। परन्तु यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सिरपुर के लक्ष्मण देऊल तथा राजिम के राजीवलोचन मन्दिर की गर्भसूत्रीय व्यवस्था में मौलिक एकरूपता होते हुए भी ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था में दोनों मन्दिरों के विमानों के रूप-मण्डन में यथेष्ट भिन्नता है।

दानेश्वर महादेव मन्दिर के महामण्डप में पार्श्वभित्तियाँ नहीं होने से यह तीन ओर से खुला हुआ है। इसकी छत्त स्तम्भों की चार कतारों पर आधारित है। मध्यवर्ती दोनों कतारों के स्तम्भ पार्श्ववर्त्ती स्तम्भों से ऊँचाई एवं परिमाण में लग-भग दुगुने हैं। नन्दि मण्डप और महामण्डप की सन्धि-भूमि पर स्थित दो स्तम्भों की बीच के अन्तर को प्रवेशमार्ग के रूप में रिक्त छोड़कर, चारों ओर मण्डप की कुल ऊँचाई से लगभग आधी ऊँचाई वाली एक अवरोध-भिन्नि बना दी गयी है। इसी भित्ति को दोनों पार्श्वों के लघु स्तम्भों के लिए आधार-पीठ (कक्षायन) बना लिया गया है। महामण्डप-निर्माण की इस विशिष्ट योजना का एक अन्य उदाहरण रायपुर जिले में महानदी के तट पर स्थित नारायणपुर नामक स्थान में अवस्थित कलचुरीयुगीन मन्दिर में देखने को मिलता है। परन्तु गाँव के लोगों ने अब यहाँ आधे के लगभग खुले पार्श्व भाग को पूर दिया है। इस परम्परा का एक और दूसरा उदाहरण दुर्ग जिले में देवबलौदा का प्राचीन मन्दिर है।

राजिम मन्दिर-समूह के महामण्डप के स्तम्भ तथा भित्तिस्तम्भ (कुड्य-स्तम्भ) वास्तु-योजना के अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में स्थापित किये गये हैं। वास्तुकीय महत्त्व के अतिरिक्त मूर्ति-शिल्प की दृष्टि से भी ये विशेष उल्लेखनीय हैं। स्तम्भ प्रायः कई अंगों में विभक्त हैं। परन्तु इस प्रकार के विभाजन में समानुपातिक विन्यास पर विशेष ध्यान दिया गया है। उपलब्ध स्तम्भों का परीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश स्तम्भ पूर्ण कलश के अभिकल्प से मण्डित शीर्ष वाले हैं। स्थापत्य के अंगरूप में इस प्रकार के स्तम्भों को गुप्तकाल की विशेषता मानी गयी है। राजिम के मन्दिरों से प्राप्त कुछ स्तम्भों की समता जबलपुर जिले के तिगोवा नामक स्थान में स्थित गुप्तकालीन मन्दिर के स्तम्भों से की जा सकती है। राजिम के मन्दिरों में कुछ ऐसे भी स्तम्भ हैं जिनका अधिष्ठान और शीर्ष दोनों पूर्णकलश-अभिकल्प से

अलंकृत हैं। इस प्रकार के स्तम्भ एरण के गुप्तकालीन मन्दिर में भी हैं। इनमें से कुछ स्तम्भों की तुलना ग्यारसपुर के १० वीं शताब्दी के मन्दिर के स्तम्भों से करने पर हमें दोनों में यथेष्ट साम्य दिखाई पड़ता है।[1]

भित्तिस्तम्भों (कुड्य-स्तम्भों) पर सामान्यतः देवी-देवता, राजपुरुष, शालभंजिका तथा सामान्य स्त्री-पुरुष की मानवाकार मूर्तियाँ अत्युच्च शैली में पूर्ण उभार के साथ तरासी गयी हैं। कजिन महोदय ने इन भित्तिस्तम्भों (कुड्य-स्तम्भों) पर कोरी गयी मानवाकार प्रतिमाओं को प्रारम्भिक बौद्ध स्तूपों के वेदिका स्तम्भों पर बनायी गयी मूत्तियों की परम्परा से प्रभावित माना है।[2]

गर्भगृह के भू-स्तरीय विन्यास की व्यवस्था का स्वरूप प्रायः सभी उदाहरणों में समान है, तथा शिल्पशास्त्रों द्वारा निर्देशित परिमाण एवं रूप-विधान का पूरा-पूरा ध्यान इनके निर्माण में रखा गया है।

कुलेश्वर महादेव के मन्दिर में गर्भगृह से सम्बन्धित वास्तु-योजना का स्वरूप शेष मन्दिरों से भिन्न था। जिस समय बेगलर ने राजिम का पुरातात्त्विक सर्वेक्षण किया था, उस समय इस मन्दिर में एक ही पंक्ति में दो गर्भगृह थे। दोनों गर्भगृह एक दूसरे से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र थे। दोनों पूर्वाभिमुख थे तथा उनका मुख-प्रवेश दक्षिण से उत्तर की ओर प्रलम्बित एक ही मण्डप में था। दक्षिण दिशा की ओर बना गर्भगृह कुलेश्वर महादेव को समर्पित था, जिसका लिंगरूप उसमें प्रतिष्ठित था तथा उत्तर दिशा की ओर का गर्भगृह सूना पड़ा था। दोनों गर्भगृह अलग-अलग शिखरों से युक्त थे।[3] दो विमान वाले मन्दिर का अन्य उदाहरण कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ है। परन्तु पल्लव नरेशों द्वारा बनवाये गये शैलोत्खनित मण्डपों में एक से अधिक गर्भगृह प्राप्त हुए हैं। अतः ऐसी स्थिति में कुलेश्वर महादेव मन्दिर की यह द्वि-विमान युक्त विशिष्ट स्थापत्य योजना निस्संदेह पल्लव-मण्डप-वास्तु से प्रभावित जान पड़ती है।

वर्तमान समय में राजीवलोचन, रामचन्द्र और तेलिन मन्दिर प्रदक्षिणापथ से युक्त हैं। तीनों उदाहरणों में जगती को तीन ओर से घेर कर इसका निर्माण किया गया है। तेलिन मन्दिर को छोड़कर शेष दो मन्दिरों में इसे महामण्डप से सम्बद्ध करने के लिए दोनों पार्श्वों में एक-एक द्वार बने हुए हैं। राजीवलोचन मन्दिर में ये द्वार महामण्डप की पार्श्वभित्तियों पर दो भित्ति-स्तम्भों (कुड्य स्तम्भों) के बीच की जगह को रीता छोड़कर प्रकट किया गया है, जबकि रामचन्द्र मन्दिर में गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के दोनों पार्श्वों में प्रदक्षिणापथ को सम्बद्ध करने वाले अतिरिक्त द्वार बने हुए हैं।

ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था (उत्सेधविन्यास) में भी हमें राजिम के मन्दिरों में स्थूल

---

१. चित्रफलक ८

२. आर्क० सर्वे आफ इण्डि. न्यू सिरीज भाग-१९, पृ. ५३

३. आर्क. सर्वे. आफ इण्डि. भाग ७ पृ. १४८-१४९।

पर्यावलोकन से उसी अभिन्नता का दर्शन होता है, जिसका स्वरूप निर्देशन गर्भसूत्रीय व्यवस्था में इन मन्दिरों के सामान्य लक्षणों पर विचार करते समय हमने पाया है।

सभी मन्दिर आयताकार जगती पर अधिष्ठित हैं। जगती की ऊँचाई एवं विस्तार को इस पर अधिष्ठित मन्दिर के विमान की ऊँचाई तथा गर्भसूत्रीय (भू-विन्यास) विस्तार के अनुरूप निर्धारित किया गया है।

पंचेश्वर तथा कुलेश्वर महादेव की जगती उनकी स्थिति विशेष को ध्यान में रखकर बनायी गयी है। कुलेश्वर महादेव का मन्दिर पैरी और महानदी के संगम-स्थल पर बना हुआ है। अतएव बरसात में नदी की बाढ़ से उसकी रक्षा करने के लिए इस मन्दिर की जगती को अष्ट भुजाकार रूप में बनाया गया है। यह जगती तल प्रदेश से ऊपर की ओर क्रमश: सँकरी होती गयी है। पंचेश्वर महादेव का मन्दिर नदी के एकदम तट पर बनाया गया है। नदी की धारा की वेग-शक्ति को विकेन्द्रित करने के लिए इस मन्दिर की जगती को बेलनाकार बनाया गया है। यहाँ पर भी जगती नीचे से ऊपर की ओर उत्तरोत्तर संकुचित होती गयी है। इन दोनों उदाहरणों में जगती की निर्माण-योजना इनके निर्माता स्थपतियों के वास्तुशास्त्रीय तकनीकी ज्ञान की प्रौढ़ता की परिचायिका है। इन दोनों उदाहरणों में जगती को यथेष्ट ऊँचा बनाना स्वाभाविक ही था।

शिखर युक्त विमान तथा सपाट छत वाले महामण्डप राजिम के मन्दिरों की सामान्य विशेषताएँ हैं। यहाँ के सपाट छत वाले महामण्डपों को हम गुप्त कालीन प्रारम्भिक मन्दिरों के चार स्तम्भों पर आधारित सपाट छत वाले लघु बरांडों के परवर्तीयुगीन विकास को निर्देशित करने वाले उदाहरणों में से एक मान सकते हैं। दक्षिण भारत के प्रारम्भिक चालुक्य मन्दिरों में हमें शिखर युक्त विमान तथा स्तम्भाधारित सपाट छत वाले महामण्डप प्राप्त होते हैं। राजिम के इन मन्दिरों पर प्रारम्भिक चालुक्य-वास्तु का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

राजिम के अधिकांश मन्दिर त्रिरथ प्रकार के हैं। इसका स्वरूप गर्भन्यास (नींव) में ही प्रकट हो जाता है, और जैसे-जैसे निर्माण-कार्य आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे अधिष्ठान से प्रारम्भ कर शिखर तक ऊर्ध्वगामी रेखाओं, उत्सेधकोणों, संतुलित एवं प्रलम्बित भित्ति पटों की अभिव्यक्ति में वांछित तीव्रता, अनुकूल गम्भीरता तथा सम्मुख दर्शन में प्रकाश एवं छाया की तरंगे, कहीं निम्न कहीं उन्नत पीठ-गढ़त से रूप-वैविध्य आदि समस्त भावों का सम्यक् रूप से स्वाभाविक रूपायन होता जाता है। त्रिरथ गर्भन्यास (नींव) के अनुरूप ही समस्त विमान-सम्मुख दर्शन में त्र्यंग बाड युक्त है। यह राजिम के मन्दिरों में रूपायित स्थापत्यकला की उल्लेखनीय उपलब्धि है। परन्तु निर्माण सम्बन्धी इस विशिष्टता का दर्शन उपलब्ध सभी उदाहरणों में समान रूप से नहीं होता। कुछ उदाहरणों में रथ और बाड की अनुषांगिकता या तो विकृत रूप में विद्यमान है, अथवा समय-समय पर किये गये मरम्मत आदि के कारण उनका मूलस्वरूप ही पूर्णतया विनष्ट हो चुका है। कुछ उदाहरणों में वर्तमान प्लास्तर के नीचे उनकी विद्यमानता की सम्भावना को अस्वीकार नहीं

किया जा सकता। कुलेश्वर महादेव मन्दिर के गर्भन्यास-पीठ पर रथों की गणना कर सकना असम्भव है, परन्तु जंघा त्र्यंग-बाड युक्त होना सम्भावित सत्य है। इस उदाहरण में शिखर में बाड- तरंगों की नितान्त अनुपस्थिति विशेष उल्लेखनीय तथ्य है। प्रायः सभी प्रमुख मन्दिरों में त्रिरथ गर्भन्यास पीठ के ऊपर अधिष्ठान से शिखर पर्यन्त त्र्यंग-बाड युक्त विमान की वास्तु-संकल्पना के प्रस्तुतीकरण का श्रेष्ठतम उदाहरण राजीवलोचन का मन्दिर है। राजेश्वर तथा दानेश्वर महादेव के मन्दिर राजीवलोचन मन्दिर की मूल-स्थापत्ययोजना के अनुकरण पर बनाये गये उदाहरण हैं। पंचेश्वर महादेव मन्दिर के वर्तमान प्लास्तर के नीचे उसके मूल-स्थापत्य रूप में त्रिरथ-गर्भन्यास युक्त पीठ पर उत्थापित त्र्यंग बाड युक्त अधिष्ठान से शिखरपर्यन्त विमान का रूपायित रहना अनुमानित है।

राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के चारों कोनों पर निर्मित अनुषांगिक देवलिकाएँ पञ्चरथ गर्भन्यास पर आधारित पञ्चांग बाडयुक्त विमान के उदाहरण हैं। जगन्नाथ मन्दिर में राजीवलोचन मन्दिर के विमान की स्थापत्य-शैली के अनुकरण का प्रयास असन्दिग्ध होते हुए भी यह सप्तरथ गर्भन्यास एवं सप्तांग बाड युक्त विमान का उदाहरण है। ठीक यही स्थिति सोमेश्वर महादेव मन्दिर की भी है। यह पञ्चरथ प्रकार का मन्दिर है, जिसका विमान पञ्चांग बाड युक्त है।

सम्मुख दर्शन (ब्रह्मसूत्रीय-व्यवस्था) में जगती पर संस्थापित विमान को चार विशिष्ट उपाङ्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(अ) अधिष्ठान :

राजीवलोचन तथा उसके चार अनुषांगिक देवलिका, एवं राजेश्वर, दानेश्वर, भूतेश्वर और पञ्चेश्वर मन्दिर वे उदाहरण हैं जिनमें विमानों के निर्माण-सम्बन्धी स्वरूप शेष हैं। इसके विपरीत कुलेश्वर, रामचन्द्र, सोमेश्वर तथा जगन्नाथ मन्दिर में मूल अधिष्ठान का स्थापत्य-रूप विकृत हो चला है। जिन उदाहरणों में अधिष्ठान का मौलिक स्वरूप यत्किंचित रूप में शेष है, उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि इनकी चिनाई में उप-पीठगढ़त द्वारा उत्पन्न विविध अभिप्रायों के प्रस्तुतीकरण को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। विमान के अधिष्ठान पर उत्खचित यह उप-पीठ-गढ़त—महामण्डप की पार्श्वभित्तियों के दोनों सम्मुख छोरों तक समान लय, गति एवं छन्दबद्ध रूप में प्रवाहित होते हुए समस्त निर्मिति को व्याप्त कर लेता है। अधिष्ठान के उप-पीठ-गढ़त की इस सोद्देश्य प्रवाहमयता के कारण एक ओर जहाँ महामण्डप और विमान का परस्पर अनुपूरक भाव प्रदर्शित किया गया है, वहीं दूसरी ओर सम्मुख दर्शन में विमान के चारों विशिष्ट अङ्गों को रूपवैविध्य प्रदान कर निर्मिति की अभिरामता में वृद्धि का प्रयास निरूपित है।

(आ) जंघा :

प्रवेश-द्वार की दिशा को छोड़कर विमान को शेष तीन दिशाओं से परिवेष्टित

करने वाली मूल भित्ति जो स्वयं अधिष्ठान के ऊपर आधारित एवं ऊपर की ओर प्रलम्बित रहती है, तथा जिसके स्कन्ध पर शिखर का समस्त भार स्थिर रहता है— जंघा कही जाती है। राजीवलोचन, राजेश्वर, दानेश्वर तथा राजीवलोचन मन्दिर की एक अनुषांगिक देवलिका (बद्रीनारायण मन्दिर) में जंघा पर छद्म-स्तम्भों अथवा कुड्य-स्तम्भों के अभिप्राय उभार में अभिव्यक्त हैं। इन छद्म-स्तम्भों अथवा कुड्य-स्तम्भों के शीर्ष पर मांगल्य घट के अभिकल्पों का अलंकरणात्मक रूपायन है। इसी तरह जंघा का अधोभाग भी पूर्णघट के आकार से युक्त भासित होता है। इसमें संशय नहीं कि इन अभिप्रायों के रूपांकन में सिरपुर के लक्ष्मण देऊल के विमान के जंघे पर अभिव्यक्त छद्म-स्तम्भों अथवा भित्ति-स्तम्भों के अलंकरणात्मक प्रयोजनों के अनुकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। राजीवलोचन मन्दिर के जंघे पर तीनों दिशाओं में मध्य में अलिन्द (रथिका-बिम्ब) बने हुए हैं। राजेश्वर मन्दिर में भी इस विशिष्ट अभिप्राय का सम्यक् रूप से निर्देशन है। बद्रीनारायण मन्दिर में हमें जंघे पर द्विभूमिक अलिन्द (रथिका-बिम्ब) का छद्म-रूप विशुद्ध अलंकरणात्मक प्रयोजन को पूरा करने के लिए अभिव्यक्त मिलता है। इसका सिरदल चैत्य-गवाक्ष की अलंकरणात्मक अभिव्यक्ति द्वारा मण्डित है।

दानेश्वर महादेव मन्दिर के विमान का उत्तरी एवं दक्षिणी जंघा आयताकार रूप में बनी जालीदार खिड़की से युक्त है। इस प्रकार का यह अकेला उदाहरण है। परन्तु पश्चिमी जंघे के मध्य में पूर्व उदाहरणों की ही भाँति अलिन्द रूपायित है।

कुलेश्वर, पञ्चेश्वर, एवं भूतेश्वर मन्दिरों में विमान के जंघे के मूलरूप के सम्बन्ध में कुछ निर्णय ले पाना वर्तमान में असम्भव है। इनमें से कुछ में समय-समय पर किये गये मरम्मत आदि के कारण जंघे का मूलरूप या तो समाप्त हो गया है, अथवा वर्तमान प्लास्तर के मोटे पर्त के नीचे दबा पड़ा है।

रामचन्द्र तथा जगन्नाथ मन्दिर के जंघों पर राजीवलोचन मन्दिर के अनुकरण पर छद्म-स्तम्भों अथवा कुड्य-स्तस्भों के निर्देशन का प्रयास है, परन्तु इस अनुकरण से इन वास्तुरूपों में न तो पूर्वापेक्षा सुन्दरता ही लायी जा सकी है और न ही इन्हें इस पीठ पर मौलिकता प्रदान की जा सकी है।

बामन, वाराह एवं नृसिंह मन्दिरों के जंघों को स्थूल पीठ-गढ़त द्वारा तल जंघा और ऊपर जंघा में विभक्त किया गया है। कुलेश्वर महादेव मन्दिर में भी जंघा का इन दोनों उपांगों में विभक्त रहना वर्तमान में प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है।

(इ) शिखर :

स्थापत्य-कला की दृष्टि से यहाँ के मन्दिरों की शिखर योजना विशेष उल्लेखनीय है। राजीव लोचन, राजेश्वर तथा दानेश्वर मन्दिरों में अधिष्ठान तथा जंघे को व्याप्त करने वाले त्र्यंग बाड का अभिराम रूप शिखर में ही देखने को मिलता है। अधिष्ठान से शिखर की ग्रीवा-सन्धि-पर्यन्त त्र्यंग बाड के प्रक्षेपण-विन्यास तथा उन पर क्रमशः अधि-उच्च-पीठ-गढ़त, छद्म-स्तम्भ अथवा भित्ति-स्तम्भ आलेखन एवं

चैत्य गवाक्षों के अलंकरणात्मक रूपायन द्वारा सम्मुखदर्शन में समस्त निर्मिति को अपूर्व कलात्मकता प्रदान की गयी है। सम्मुखदर्शन में राजीवलोचन मन्दिर का शिखर स्थूल दृष्टि से देखने पर शुण्डाकार दिखाई पड़ता है। राजीवलोचन, राजेश्वर एवं दानेश्वर मन्दिर के शिखर यद्यपि एक ही शैली के बने ज्ञात होते हैं, पर सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर तथा शिखर की ऊँचाई और अधिष्ठान तथा जंघे की सम्मिलित ऊँचाई के अनुपात पर ध्यान देने से विदित होता है कि राजीवलोचन मन्दिर का शिखर अधिष्ठान एवं जंघे की सम्मिलित ऊँचाई की तुलना में आपेक्षित परिमाण से कम है, जबकि राजेश्वर एवं दानेश्वर मन्दिरों के शिखरों की ऊँचाई को समानुपातिक रूप देने का प्रयास स्पष्ट है। राजीवलोचन मन्दिर के शिखर का उसके अन्य अंगों के परिमाण में जो रूप है वह प्रत्यक्षतः द्रविड़शैली के कहे जाने वाले प्रारम्भिक मन्दिरों के विमानों के विविध अंगों के पारिमाणिक विन्यास से प्रभावित है। जबकि राजेश्वर एवं दानेश्वर मन्दिरों में शिखरों की उच्चता के भान द्वारा उन्हें नागर शैली के शिखरों के निकट लाने का प्रयास किया गया है। इन तीनों मन्दिरों का शिखर सामान्य दृष्टि से देखने पर बोध गया मन्दिर के शिखर के अनुकरण पर बनाया गया प्रतीत होता हैं। परन्तु बोधगया मन्दिर के शिखर में अधिष्ठान और जंघे की सम्मिलित ऊँचाई के परिमाण में उच्चता का जो भान है, उसका यहाँ अभाव-सा है। इसके विपरीत प्रारम्भिक चालुक्य मन्दिरों के शिखरों का अन्य अंगों के परिमाण में उच्चता का जो स्थूल मान निर्धारित दिखाई पड़ता है, उसके प्रत्यक्ष अनुगमन का प्रयास इन उदाहरणों में लक्षित है। अन्य शब्दों में हम इसे इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि राजीवलोचन, राजेश्वर तथा दानेश्वर मन्दिर के शिखरों का विमान के अधोअंग की तुलना में पारिमाणिक विन्यास द्रविड़-शैली के अनुकरण पर है, जबकि रूपमण्डन नागर-शैली की परम्परा में है। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने शिल्प-शास्त्रों तथा उपलब्ध वास्तुरूपों का समीक्षात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि बेसर प्रकार के मन्दिरों का विन्यास (परिमाण-विन्यास) द्रविड़-शैली का होता था तथा उनका रूप नागर-शैली का।[1] प्राचीन शिल्प-ग्रन्थों में बेसर प्रकार के मन्दिर वास्तु के लिए 'मिश्रक' नामाभिधान भी प्राप्त होता है, जिसका सामान्य अर्थ उस वास्तुरूप से है जिसमें नागर और द्रविड़ दोनों शैलियों का मिश्रण हो। इस दृष्टि से इन मन्दिरों को बेसर शैली की निर्मितियाँ स्वीकार करने की सम्भावना प्रबल हो जाती है। यह स्वीकार कर लेने से कि बेसर शैली के मन्दिर सामान्यत: दक्खन क्षेत्र में बनाये जाते थे,[2] उपरोक्त विचार को और अधिक बल प्राप्त होता है। परन्तु बेसर प्रकार के मन्दिर वास्तु का वृत्तायत अथवा द्वयास्रवृत्त होना अनिवार्य लक्षण माना गया है। इस लाक्षणिक विशिष्टता का इन मन्दिरों में नितान्त अभाव है। इस विरुद्धगामी तथ्य के होते हुए भी यदि हम पूर्व धारणा पर दृढ़ रह

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, भाग १, पृ॰ ५६६-६७।

२. उपरोक्त (नागरी प्र. से प्रका.)

सकें तो यह स्वीकार करना होगा कि इन मन्दिरों द्वारा प्रस्तुत वास्तु-रूप प्राचीन दक्षिण कोशल क्षेत्रान्तर्गत विकसित बेसर शैली का आंचलिक रूप है।

बद्रीनारायण मन्दिर का शिखर राजीवलोचन मन्दिर की शिखर-शैली में है, परन्तु इस पर चैत्य गवाक्ष के शृंखलाबद्ध ऊर्ध्वोन्मुख क्रम में अलंकरणार्थ आलेखन का अभाव है। इसका स्थान पंक्तिबद्ध शिखर-आकृतियों के ऊर्ध्वोन्मुख क्रम ने ले लिया है।

सोमेश्वर मन्दिर के शिखर के रूपायन में बद्रीनारायण मन्दिर की शिखर-शैली तथा उसके अलंकरणात्मक अभिप्रायों को अधिक सघनता के साथ रूपायित किया गया है।

वामन, वाराह, नृसिंह, तेलिन, भूतेश्वर, पंचेश्वर, जगन्नाथ एवं रामचन्द्र मन्दिरों के शिखरों के विन्यास में नागर-शैली का स्पष्ट अनुकरण है। वामन, वाराह एवं नृसिंह मन्दिर के शिखरों का रूप मण्डन स्पष्टतः पट्टडकल के पापनाथ मन्दिर की शिखरशैली से मिलती जुलती है।

कुलेश्वर महादेव मन्दिर के शिखर का वर्तमान रूप अन्य उदाहरणों से सर्वथा भिन्न है। वर्तमान में यह एक निश्चित उँचाई के क्रमशः ऊपर की ओर संकुचित होते गये अनेक छद्म-भूमिक वास्तु के समान दिखाई पड़ने वाला शुण्डाकार शिखर है। यदि इसे मूल का वर्तमान मोटे प्लास्तर के कारण बिगड़ा हुआ रूप मान लें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस शिखर की योजना उड़ीसा के मन्दिरों के पीढ़ा देऊल के शिखरों के समान रही होगी। इस प्रकार का शिखर हमें छत्तीसगढ़ क्षेत्र में गुरूर के प्राचीन मन्दिर में देखने को मिलता है। अतः बहुत सम्भव है कि गुरूर के मन्दिर का शिखर राजिम के कुलेश्वर महादेव मन्दिर के शिखर के अनुकरण पर बनाया गया रहा हो।

(ई) शिखर शीर्ष :

राजिम के प्रायः सभी मन्दिरों के शिखरों का शीर्षभाग कलश, घट एवं आयुध से मण्डित है। इन मन्दिरों में सामान्यतः हमें दो प्रकार के शीर्ष देखने को मिलते हैं। प्रथम प्रकार का प्रतिनिधित्व राजीवलोचन मन्दिर के शिखर का शीर्ष करता है तथा दूसरे का कुलेश्वर महादेव मन्दिर के शिखर का शीर्ष।

राजीवलोचन मन्दिर के शिखर का शीर्ष वस्तुतः उड़ीसा के रेखादेऊल एवं पीढ़ा देऊल-दोनों प्रकार के वास्तुरूपों में पाये जाने वाले शिखर-शीर्षों का समन्वित रूप है।

इस मन्दिर का शिखर और शीर्ष दोनों एक वृत्ताकार बेकी के द्वारा परस्पर सम्बन्ध हैं, जैसा कि रेखा देऊल में मिलता है। बेकी के ऊपर रेखा देऊल की परम्परा में आमलक शिला है। इस आमलक शिला के मध्य से उभार में एक पट्टी प्रवाहित कर इसे दो विशिष्ट अंगों में विभक्त कर दिया गया है। इस आमलक शिला के ऊपर पीढ़ा देऊल से घन्टाकलश के अनुकरण पर वास्तु-संयोजन है। इस पीठ पर भी

इसे घन्टाकलश ही कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। इस घन्टाकलश के ऊपर लघु आमलक है। इस लघु आमलक पर आयुधयुक्त पूर्णघट स्थापित किया गया है।

इस प्रकार का शिखर-शीर्ष हमें राजीवलोचन मन्दिर के अतिरिक्त राजेश्वर, दानेश्वर, बद्रीनारायण, वामन, वाराह, नृसिंह, रामचन्द्र, जगन्नाथ तथा सोमेश्वर मन्दिर में भी यत्किंचित प्रभेदों के साथ विद्यमान मिलता है। राजीवलोचन मन्दिर के अनुषांगिक देवलिकाओं तथा जगन्नाथ मन्दिर में शीर्षस्थ मांगल्य घट के आधार रूप में ऊर्ध्वमुख दल वाले तथा अवनतमुख वाले कमल का अंकन है जो राजीवलोचन, राजेश्वर तथा दानेश्वर में अनुपलब्ध है।

कुलेश्वर, पञ्चेश्वर तथा भूतेश्वर और तेलिन मन्दिर में शीर्ष का स्वरूप पूर्व उल्लिखित प्रकार से भिन्न है। इसमें शीर्ष आमलक एवं उस पर मण्डित पूर्ण कलश ये ही दो प्रमुख उल्लेखनीय अंग हैं। आमलक का स्वरूप भी इन दोनों प्रकारों में एक-दूसरे से भिन्न है तथा स्थूलरूप से सम्मुख दर्शन में पट्टडकल के पापनाथ मन्दिर के आमलक से सादृश्य रखते हैं। परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि कुलेश्वर महादेव मन्दिर के आमलक की निर्माण-प्रक्रिया सर्वथा भिन्न प्रकार की रही है। यह उत्तरोत्तर संकुचित क्रम में एक-दूसरे के ऊपर बैठाये गये मण्डलक स्थूणा द्वारा प्रकट किया गया है।

(उ) स्तम्भ :

सामान्य पर्यवेक्षण से ही यह स्पष्ट भासित होने लगता है कि राजिम के मन्दिर-स्थापत्य का स्तम्भ तथा भित्ति-स्तम्भ (कुड्य-स्तम्भ) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं। इन मन्दिरों के सपाट छत्त वाले महामण्डप स्तम्भों तथा भित्ति-स्तम्भों पर ही आधारित हैं। वास्तुकीय महत्त्व के अतिरिक्त इन स्तम्भों तथा भित्ति-स्तम्भों का शिल्प की दृष्टि से भी अत्यन्त ही गौरवपूर्ण स्थान है। इन पर उभार में बनायी गयी मूर्तियों तथा उकेरे गये विविध अलंकरणात्मक अभिप्रायों में ही वस्तुतः राजिम कलाकेन्द्र को अमृतपद प्रदान करने वाले कलाकारों की कलात्मक प्रतिभा के क्रमिक विकास की इतिवृत्ति निरूपित है।

प्रायः सभी मन्दिरों के महामण्डप की दोनों पार्श्व भित्तियों से सम्बद्ध भित्ति-स्तम्भों (कुड्य-स्तम्भों) पर देवी-देवताओं, परिचारक, राजपुरुष, कन्या, नायिका एवं शालभंजिका की मानवाकार प्रतिमाएँ उभार में काटतरास तथा कोर-सँवार कर बनायी गयी हैं। ये मूर्तियाँ सुघट्यता तथा सुन्दरता के जीवन्त प्रमाण हैं तथा वास्तु के अंगरूप में ये प्रारम्भिक स्तूप वास्तु के विविध विषयों से सम्बन्धित मूर्तियों से युक्त वेदिकास्तम्भों की शैली की विकास प्रक्रिया की देन हैं।

जगन्नाथ मन्दिर तथा भूतेश्वर महादेव का मन्दिर वे उदाहरण हैं जिनमें भित्ति-स्तम्भों पर मूर्तियों का आलेखन नहीं है। राजेश्वर महादेव मन्दिर के कुछ भित्ति-स्तम्भ सादे हैं। परन्तु ये सादे भित्ति-स्तम्भ मूल भित्ति-स्तम्भों के टूट जाने के पश्चात् कालान्तर में महामण्डप के छत को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए स्थापित किये

गये प्रतीत होते हैं। सोमेश्वर मन्दिर के महामण्डप का वर्तमान रूप उसके मूल रूप से सर्वथा भिन्न है—यह प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट कारण है। इसका वर्तमान रूप इतना अव्यवस्थित है कि इस पर भित्ति-स्तम्भों का मौलिक अस्तित्व ही संदिग्ध भासित होता है।

शताब्दियों पर्यन्त साधनारत स्थपतियों तथा शिल्पियों की सृजनात्मक उपलब्धियों की प्रारम्भिक विकासोन्मुख दशा, पश्चात् दीर्घ अनुभव से प्राप्त कलात्मक-वैभव की परा स्थिति, और अन्त में परिस्थितियों की प्रतिकूलता के परिणामस्वरूप ह्रास की विवशतापूर्ण स्वीकृति का साम्यक् निर्देशन महामण्डपों के स्तम्भों द्वारा होता है। इन स्तम्भों में विकास की प्रक्रिया का निरूपण मांगल्य-घटमण्डित शीर्षयुक्त स्तम्भों के रूप-मण्डन में सुन्दर ढंग से हुआ है। इस वर्ग के कुछ उदाहरण गुप्तकालीन तिगोवा मन्दिर के स्तम्भ से मिलते-जुलते हैं। पर विकास की अन्तिम स्थिति में राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के स्तम्भों तथा सोमेश्वर मन्दिर के महामण्डप के स्तम्भों के रूप में कला सम्बन्धी मान का अन्तिम परिसीमन निर्धारित करते हैं। कुछ स्तम्भ एरण के गुप्तकालीन मन्दिर के स्तम्भ के समान निधिकशल अभिकल्प से रूपांकित अधोभाग एवं मांगल्यघटयुक्त शीर्ष वाले हैं। इस वर्ग का श्रेष्ठतम उदाहरण राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार में प्रविष्ट होने के लिए बनाये गये प्रवेश-द्वार के बाह्य प्रकोष्ठ पर के स्तम्भ हैं। कुछ स्तम्भ कमल-पुष्प अभिकल्प से मण्डित शीर्ष वाले हैं। परन्तु इन कमलपुष्पों के रूपायण में शिल्पियों को सौन्दर्य-भावना को अभिव्यक्त कर सकने में सफलता प्राप्त नहीं हो पायी है। कुछ स्तम्भों के थम्भों पर सुदृश्य तथा सुन्दर नारी मूर्तियाँ कोरी गयी हैं। ये मूर्तियाँ राजिम क्षेत्र से प्राप्त मूर्तिकला के श्रेष्ठतम उदाहरणों में से हैं। कुछ स्तम्भ सादे गढ़न वाले हैं।

प्रायः सभी स्तम्भों में—(अ) चतुरस्र बैठकी, (आ) चतुरस्र अष्टास्र अथवा षोडसास्र आदि क्रम में विभक्त थम्भ (इ) मांगल्य घट अथवा कमल पुष्प अभिकल्प से मण्डित शीर्ष, (ई) चतुरस्र परगहा, (उ) परगहे पर अवस्थित धनुर्बंधनी (कपोत पाली) पाये जाते हैं।[1]

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन दक्षिण-कोशल क्षेत्रान्तर्गत राजिम कला-सृजन का एक ऐसा प्रमुख केन्द्र रहा है जहाँ युगों की कला-साधना का इतिहास बना है, सँवरा है। यहाँ के कलावशेषों में उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत में समय-समय पर कला के क्षेत्र में हुए आन्दोलनों का सम्यक् रूप से प्रभाव पड़ता रहा है। फलतः यहाँ के उदारमना शिल्पियों की कलासंकल्पना में युग विशेष की कला के सार तत्त्वों का समावेश तो रहा ही है साथ ही उसकी अपनी मौलिकता का भी सद्यः निर्देशन होता रहा है।

● ● ●

---

१. चित्रफलक ८

अध्याय चार

स्थापत्य-कला

गत अध्याय में हमने प्राचीनता की दृष्टि से राजिम के महत्त्वपूर्ण मन्दिरों की सामान्य वास्तु-योजना पर संक्षिप्त में विचार किया है। इस सामान्य सर्वेक्षणात्मक अध्ययन में यहाँ की स्थापत्य-कला को प्रभावित करने वाली विभिन्न स्थापत्य-शैलियों का भी स्थानानुसार उल्लेख किया गया है। इन दो विशिष्ट बातों के अतिरिक्त गत अध्याय के निरूपण में यह विशेष रूप से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि यद्यपि राजिम के देवालयों का निर्माण अलग-अलग समयों पर हुआ है, परन्तु इसके निर्माता स्थपतियों की वैयक्तिक अभिरुचि, मूल कला-संकल्पना, भावबोध एवं समकालीन कला द्वारा प्रस्थापित विविध मानों का सम्यक् रूप से निर्देशन इन देवालयों के वास्तु-संयोजन में दिखाई पड़ता है। इसके साथ ही साथ विविध लोकानुरंजक तत्त्वों का समावेश भी अत्यन्त ही उदात्ततापूर्वक यहाँ की मूल कला-संकल्पना में स्वीकृत है, परन्तु इन समस्त तथ्यों की अभिव्यंजना से प्रादुर्भूत सूक्ष्म वैविध्यों के होते हुए भी यहाँ के सभी मन्दिरों के वास्तुरूप-विन्यास में आश्चर्यजनक अभिन्नता है। इसके कारण यहाँ की समस्त निर्मितियों में एकात्म भाव की विद्यमानता, एक ही शैली की संचरणशीलता तथा वास्तु-संस्थापन की समान तकनीकी प्रक्रिया के अंगीकरण का तत्वबोध स्पष्ट परिलक्षित होता है।

राजिम के देवायतनों का निर्माण ७ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण अथवा ८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर १४ वीं शताब्दी के मध्य हुआ है। इस धारणा की पुष्टि उपलब्ध अभिलैखिक साक्ष्यों तथा कलारूपों के परस्पर तुलनात्मक अध्ययन द्वारा हो जाती है। यह सर्व विदित तथ्य है कि इस अवधि में देश की कलात्मक प्रवृत्ति में अनेकों उल्लेखनीय आन्दोलनकारी परिवर्तन हुए हैं। परन्तु राजिम के साधनारत स्थपतियों का उपर्युक्त आन्दोलनों से सर्वथा अलिप्त रहना अथवा समकालीन नूतन उपलब्धियों के प्रति उदासीनता-जन्य उपेक्षावृत्ति बनाये रखना-उनके सचेत, जिज्ञासु तथा संकल्पवान व्यक्तित्व को देखते हुए यद्यपि नितान्त असम्भव प्रतीत होता है, तथापि उपलब्ध प्रमाणों का विश्लेषण यह सिद्ध कर देता है कि इस पीठ पर परम्परा के पोषण की प्रवृत्ति ही अप्रतिहत रूप से गतिशील रही है। इस स्थान की तथा इसके मन्दिर विशेष की सर्वकालिक महत्ता, उपयोगिता एवं सर्वजनप्रियता ही इस प्रवृत्ति की अमरता का सर्वाधिक सम्भावित आधारभूत कारण रहा है।

स्थापत्य-कला के क्षेत्र में राजिम की अप्रतिम उपलब्धि के सूक्ष्म रूपायण के लिए यह आवश्यक है कि विद्यमान वास्तु रूपों का यथासम्भव विस्तृत वर्णन किया जाय।

राजीवलोचन मन्दिर :

महत्त्व :

राजीवलोचन का विशाल मन्दिर अपनी प्रधानता तथा शिल्पगत प्रौढ़ता के कारण सहवर्गीय उदाहरणों में मुकुटमणि के समान है। वर्तमान में राजिम से सम्बन्धित धार्मिक भावनाओं तथा सांस्कृतिक चेतना का केन्द्र होने के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी विद्यमान उदाहरणों में इसे प्राचीनतम निर्मिति होने का गौरव प्राप्त है। यहाँ स्थित प्रायः सभी प्राचीन मन्दिर अपने अंग-विन्यास, सम्मुख-रूपदर्शन, शिल्पशैली तथा निर्माण सम्बन्धी तकनीक में स्थूल दृष्टि से विचार करने पर जिस परम्परा विशेष का अनुगमन करने में तत्पर दिखाई देते हैं, उसकी प्रारम्भिकतम होते हुए भी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति राजीवलोचन मन्दिर के निर्माण में हुई है। यही कारण है कि इस पीठ कालान्तर में बनाये गये अन्य वास्तु-रूपों के लिए इसका उपजीव्य होना ऐतिहासिक सत्य भासित होता है। इसके अतिरिक्त यह मन्दिर वर्तमान छत्तीसगढ़ क्षेत्रान्तर्गत प्राचीन मन्दिर-वास्तु-कला के विकास-क्रम के एक सोपान-विशेष के शैलीगत विशेषताओं को प्रस्तुत करने वाला वास्तु-रूप है। इसका अध्ययन प्राचीन भारतीय स्थापत्य-कला के इतिहास में दक्षिण-कोशल के योगदान को निरूपित करने तथा उसका सही मूल्यांकन करने के लिए अपरिहार्य प्रमाण के रूप में अनिवार्य है। इसकी विषयगत सम्बद्धता यहाँ के लोगों की धार्मिक आस्था का द्योतक है। इसके गर्भगृह में प्रतिष्ठित देवता विशेष (विष्णु) के श्रीविग्रह में केन्द्रित भावना राजनीतिक परिवर्तनों से अबाधित यहाँ के सांस्कृतिक जीवन की अविछिन्न धारा से सम्बद्ध है।

नाम परिचय :

पूर्व पीठिका में राजिम स्थान नाम की ऐतिहासिकता पर विचार करते हुए हमने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि राजीवलोचन (राजिमलोचन) देव नाम पर ही यह स्थान नाम पड़ा है। इस सन्दर्भ में देव विशेष के लिए इस विशिष्ट नामाभिधान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा प्रचलित मान्यताओं का यथेष्ट विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है। अतः यहाँ पर प्रमुख तथ्यों का उल्लेख मात्र यथेष्ट होगा।

"राजिमलोचन" देवनाम की प्रसिद्धि तथा इस देव नाम से "राजिम" स्थान नाम के प्रचलन से सम्बन्धित मान्य अनुश्रुति का विषय "राजिम" अथवा "राजम" नामक तेलिन के जीवन पर आधारित कथा प्रसंग है। रायपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर के लेखक की दृष्टि में राजिम में स्थित तेलिन मन्दिर इस लोक-अनुश्रुति के मूल में सन्निहित सम्भावित ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने वाला साक्ष्य है। गजेटियर के लेखक का यह भी मत है कि यदि राजिम तेलिन की जीवनी पर आधारित अनुश्रुति में कुछ सत्यांश है तो तेलिन मन्दिर के गर्भगृह में रखे सती-स्तम्भ पर उत्कीर्ण "कोल्हू एवं बैल" के चित्रण को व्यवसाय का प्रतीक मानते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा

कि वह अपने परम आराध्य के सम्मुख सती हुई थी।

इस सम्बन्ध में एक दूसरी अनुश्रुति भी प्रचलित रही है, पर अब लोगों को यह विस्मृत हो चली है।[1] इसका उल्लेख सर रिचर्ड जेन्किन्स ने एशियाटिक रिसर्चेज (जिल्द १५, पृ० ५०३ इत्यादि) में राजिम से सम्बन्धित अपने लेख में किया है। इस लेख में दिये गये विवरण से ज्ञात होता है कि लोग इसे मात्र किंवदन्ति न मान कर पुराणोक्त सत्य घटना मानते थे, तथा भविष्योत्तर पुराण में इसका उल्लेख होना स्वीकार करते थे। इस अनुश्रुति के अनुसार—

"यह राम के समकालीन राजीवनयन नामक राजा की राजधानी थी। राजा राजीवनयन ने राम के अश्वमेध यज्ञ के श्यामकर्ण घोड़े को पकड़कर महानदी के तट पर निवास करने वाले कर्दमक ऋषि को सौंप दिया। घोड़े की रक्षा करने के लिए नियुक्त शत्रुघ्न ने जब उसे ऋषि से वापस लेना चाहा तो ऋषि की क्रोधाग्नि से उसका अपनी विपुल सेना के साथ विनाश हो गया। अतएव अश्वमेध यज्ञ की सफलता के लिए स्वयं भगवान रामचन्द्र को यहाँ आना पड़ा। राजा राजीवनयन ने बिना युद्ध किये उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। भगवान राम ने राजा को आदेश दिया कि वे इस स्थान पर पूजार्थ उनकी प्रतिमा स्थापित करें। उनके द्वारा प्रस्थापित यह प्रतिमा राजीवलोचन नाम से ख्याति प्राप्त करेगी। पश्चात् भगवान राम कर्दमक ऋषि के आश्रम में गये और उन्हें प्रसन्न कर उनसे शत्रुघ्न तथा सैनिकों को पुनर्जीवन देने की प्रार्थना की। ऋषि ने शत्रुघ्न तथा समस्त सेना को पुनः जीवित कर दिया। पश्चात् भगवान राम अपने भाई शत्रुघ्न, तथा समस्त सेना के साथ अश्वमेध के घोड़े को लेकर अयोध्या वापस आ गये। यहाँ राजा राजीवनयन ने एक दिव्य प्रासाद का निर्माण कराया और उसमें भगवान की सुन्दर प्रतिमा प्रतिष्ठित कर उसकी पूजा करनी प्रारम्भ की। यही मूर्ति कालान्तर में राजिमलोचन के नामसे प्रसिद्ध हुई।

उक्त दोनों अनुश्रुतियों में निहित ऐतिहासिक सत्यांश का निर्धारण कर पाना नितान्त असम्भव है। प्रथमोक्त अनुश्रुति के सत्यासत्य के विवेचन का प्रयास पूर्वपीठिका में किया गया है। जहाँ तक दूसरी अनुश्रुति का सम्बन्ध है, यहाँ पर इतना कह देना यथेष्ट होगा कि भविष्योत्तर पुराण में इस प्रकार के किसी कथा प्रसङ्ग का कोई उल्लेख नहीं है।

अधिकांश विद्वान "राजिमलोचन" को राजीवलोचन का विकृत रूप मानते हैं तथा इसे विष्णु का विरुद स्वीकार करते हैं।

इस मन्दिर के महामण्डप की पार्श्वभित्ति पर नल नरेश विलासतुङ्ग का एक शिला लेख जड़ा हुआ है, जिसमें उसके द्वारा बनवाये गये एक मन्दिर का उल्लेख है। सामान्यतः विद्वानों ने विलासतुङ्ग द्वारा बनवाये गये मन्दिर की पहचान राजीवलोचन

---

१. इस अनुश्रुति का उल्लेख पूर्वपीठिका में न किये जाने के कारण इसका कुछ विस्तृत विवरण दिया जा रहा है।

मन्दिर से की है। वस्तुतः दक्षिण-कोशल पर शासन करने वाले प्राचीन राजवंशों के पारस्परिक अनुक्रम तथा उनके उत्थान-पतन से सम्बन्धित तिथिक्रम के आधार पर जब हम छत्तीसगढ़ क्षेत्रान्तर्गत प्राप्त प्राचीन मन्दिरों में निर्देशित तथा आलेखित मन्दिर वास्तुकला के विकासक्रम पर विचार करते हैं तो उक्त धारणा की सत्यता असंदिग्धरूप से स्वीकार करनी पड़ती है। अतः इस मन्दिर को वर्तमान, ज्ञान के आधार पर विलासतुङ्ग के उक्त शिला लेख में उल्लिखित "विष्णु-स्थान" (स्थान-मुच्चैर्विष्णोः) से अभिन्न मानना समीचीन होगा।

इस शिला-लेख के बाजू में ही एक दूसरा शिला-लेख है, जिसे रतनपुर के कलचुरी नरेश पृथ्वीदेव द्वितीय के शासनकाल में उसके अधीनस्थ सामन्त जगपाल देव ने उत्कीर्ण कराया है। इस शिला-लेख में कलचुरी सम्वत् ८९६ के ज्येष्ठ मास, शुक्लपक्ष की रथाष्टमी की तिथि उत्कीर्ण है। यह शिलालेख जगपालदेव द्वारा बनवाये गये राम के मन्दिर का उल्लेख करता है। (राम-शोभा-प्रकाशाय प्रासादं कारितवानिमम्)।

प्रायः सभी विद्वानों का मत है कि जगपाल देव ने राजिम में किसी नये मन्दिर का निर्माण नहीं कराया था, अपितु उसने नल नरेश विलासतुङ्ग द्वारा बनवाये गये मन्दिर का ही जीर्णोद्धार कराया था। इस तरह इतिहासकारों ने उक्त दोनों शिला-लेखों में उल्लिखित मन्दिर को एक ही माना है तथा उसे वर्तमान राजीवलोचन मन्दिर से सर्वथा अभिन्न कहा है। यदि इस धारणा को सत्य मान लें तो कहना होगा कि नल नरेश विलासतुङ्ग के समय के विष्णु मन्दिर को कलचुरी नरेश पृथ्वी-देव के सामन्त जगपाल देव ने राम मन्दिर में रूपान्तरित कर दिया और सम्भवतः इसी समय से ही यह राम मन्दिर के रूप में माना जा रहा है। यहाँ हमें यह विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि वर्तमान राजीवलोचन मन्दिर गर्भगृह में शंख, चक्र, गदा और पद्म, इन चारों विशिष्ट आयुधों से युक्त विष्णु की स्थानक मुद्रा में, यज्ञपुरुष रूप में मूर्ति प्रतिष्ठित है[1] :—जिसे "राम" की मूर्ति के रूप में पूजते हैं। विष्णु का राम में यह रूपान्तरण उपर्युक्त धारणा की सम्भावना को सबल बनाता है। परन्तु लेखक इस धारणा की सम्भावना के प्रति सशंकित है। इस शंका के मूल में निम्न कारण हैं :—

(क) दोनों शिलालेखों के विवरण में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिसके आधार पर इनमें उल्लिखित मन्दिरों को एक दूसरे से अभिन्न माना जा सके।

(ख) हमारे पास यह प्रमाणित करने के लिए कोई ठोस कारण नहीं है कि ये दोनों शिलालेख मूलतः राजीवलोचन मन्दिर से ही सम्बन्धित रहे हैं। यहाँ के प्राचीन मन्दिरों का सर्वेक्षण करने पर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इन मन्दिरों

---

१. चित्रफलक २२, क्रमांक १

के व्यवस्थापकों में यहाँ से प्राप्त प्राचीन सामग्रियों को किसी न किसी रूप में सुरक्षित बनाये रखने की भावना निरन्तर क्रियाशील रही है। बहुत सम्भव है कि इनमें से कोई एक शिलालेख किसी अन्य स्थान से प्राप्त हुआ हो और जिसे बाद में व्यवस्थापकों ने यहाँ लाकर रखा हो। इस सन्दर्भ में डा० किलहार्न द्वारा प्रदत्त सूचना का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। डा० किलहार्न को प्राप्त जानकारी के अनुसार जगपालदेव का शिलालेख वस्तुतः रामचन्द्र मन्दिर में था, जिसे कालान्तर में राजीव लोचन मन्दिर में लाकर महामण्डप की पार्श्वभित्ति पर जड़ दिया गया। यदि किलहार्न महोदय की सूचना में सत्यता है तो स्वीकार करना पड़ेगा कि जगपाल देव के शिलालेख का सम्बन्ध राजीवलोचन मन्दिर से न होकर रामचन्द्र मन्दिर से रहा है।

(ग) सोमवन्शी नरेश महाशिव गुप्त बालार्जुन के शिलालेखों की लिपि तथा नल नरेश विलासतुङ्ग के उपर्युक्त शिलालेख की लिपि में दृष्टव्य साम्य दोनों के मध्य काल-सान्निध्य का सूचक है, अतः सिरपुर के सोमवन्शियों के पतन के लिए नलवन्श को कारणभूत माना जाता है। राजीवलोचन मन्दिर की स्थापत्य-योजना में सोमवन्शी नरेश महाशिव गुप्त बालार्जुन के राजत्वकाल में राजमाता वासटा द्वारा बनवाये गये मन्दिर (लक्ष्मण देऊल) की स्थापत्य-योजना के अनुकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट है। अतः राजीवलोचन मन्दिर की निर्माण-तिथि में तथा सिरपुर के लक्ष्मण देऊल की निर्माण तिथि में समय का विशेष अन्तर न होना सिद्ध है। ऐसी स्थिति में विलासतुङ्ग के शिलालेख को राजीवलोचन मन्दिर से सम्बन्धित मानना सम्भावनाओं के निकट है।

(घ) जगपाल देव का उक्त शिलालेख राम के नये मन्दिर के निर्माण किये जाने का वर्णन करता है, न कि किसी प्राचीन मन्दिर के जीर्णोद्धार का। विद्वानों ने इस लेख के विवरण को ऐतिहासिक सत्य के रूप में माना है। ऐसी स्थिति में जगपाल द्वारा नये मन्दिर के निर्माण कराये जाने की घटना को भी सत्य मानना होगा। अतएव विलासतुङ्ग द्वारा बनवाये गये वर्तमान राजीवलोचन मन्दिर का ही जगपाल द्वारा कलचुरी काल में जीर्णोद्धार कराने की बात सत्य से परे मानना वर्तमान परिस्थितियों में समीचीन प्रतीत होता है।

(ङ) राजीवलोचन, रामचन्द्र और जगन्नाथ इन तीन प्रमुख देवालयों के अतिरिक्त प्राचीन समय में यहाँ और भी कुछ वैष्णव धर्म से सम्बन्धित मन्दिर रहे हैं। यह तथ्य प्रवेश द्वार के गरुड़ मूर्ति युक्त ललाटबिम्ब वाले सिरदल की प्राप्ति से सिद्ध है। इनका उल्लेख हमने "पुरातात्त्विक अवशेष तथा उनका महत्त्व" नामक अध्याय में विस्तार से किया है। अतः बहुत सम्भव है कि यदि जगपाल द्वारा बनवाये गये मन्दिर की समता वर्तमान रामचन्द्र मन्दिर से प्रमाणित कर पाना असम्भव ही हुआ तो वर्तमान में विलुप्त किसी अन्य वैष्णव मन्दिर से इसका समीकरण करना होगा।

(च) राजीवलोचन मन्दिर के गर्भगृह में प्रतिष्ठित विष्णु की प्रतिमा को ही जगपाल देव के शिलालेख में राम कहा गया हो, यह मानना नितान्त असंगत होगा। क्योंकि यद्यपि विष्णु का ही लीला-रूप राम है, तथापि शिल्पशास्त्रों में विष्णु और

राम की मूर्तियों में स्पष्ट अन्तर बताया गया है। राम की मूर्तियाँ सामान्यतः द्विभुजी होती थीं जिसमें एक हाथ अभय मुद्रा में होता था तथा दूसरे हाथ में उन्हें शर-चाप धारण किये हुये बताया जाता था। राम की इस प्रकार की एक मूर्ति रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप के स्तम्भ पर उत्कीर्ण है।[1] बहुत सम्भव है कि जगपाल द्वारा बनवाये गये मन्दिर के गर्भगृह में प्रतिष्ठित राम-प्रतिमा का श्रीविग्रह भी इसी प्रकार का रहा हो। अतः यह कहना उचित नहीं होगा कि प्रशस्तिकार को विष्णु तथा राम के प्रतिमा-लक्षण का स्पष्ट ज्ञान न होने से उसने विष्णु और राम की मूर्तियों में कोई भेद नहीं माना है। प्रशस्तिकार का भागवत सम्प्रदाय से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध था। अतः उसका इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित स्थूलतम तथ्यों से भी अपरिचित होना नितान्त अस्वभाविक प्रतीत होता है।

(छ) इसमें संशय नहीं कि वर्तमान में राजीवलोचन के नाम से सम्बोधित की जाने वाली विष्णु प्रतिमा का समीकरण लोग राम के रूप में करते हैं, पर यह मात्र अज्ञानता का ही परिणाम है। राजीवलोचन, राजीवनयन, कमलनयन, पद्मनेत्र, सरसिजनयन आदि विरुद भगवान विष्णु तथा उसके अन्य मानुषी-लीला रूपों के लिए सामान्य रूप से प्रयोग में लाये जाते हैं। अतः इनसे केवल राम का ही आशय लेना उचित नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त सब बातों को ध्यान में रखते हुए अन्त में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वस्तुतः जगपालदेव वाले शिलालेख में वर्णित मन्दिर राजीवलोचन मन्दिर से भिन्न कोई दूसरा मन्दिर, सम्भवतः वर्तमान रामचन्द्र मन्दिर था।

तिथि :

राजीव लोचन मन्दिर के निर्माण की सम्भावित तिथि निर्धारित करने के लिए हमारे पास दो प्रकार के साधन उपलब्ध हैं—(१) अभिलेखिक, (२) स्थापत्य शैली।

१. अभिलेखिक साक्ष्य : राजिम से प्राप्त इस वर्ग का प्राचीनतम उदाहरण सोमवंशी नरेश महाशिवतीवरदेव का ताम्रपत्र है, जिसका वर्णन हमने पुरातात्त्विक अवशेष तथा उनका महत्त्व, नामक अध्याय में किया है। यह ताम्रपत्र लेख पेटिका शीर्षयुक्त ब्राह्मी लिपि में है। यह लिपि सामान्यतः वाकाटक नरेशों के ताम्रपत्रों की लिपि से मिलती-जुलती है। ए. कनिंघम महोदय ने इस ताम्रपत्र लेख को लिपि के आधार पर पाँचवीं शताब्दी का माना है तथा राजीवलोचन मन्दिर के निर्माण को इस लेख की तिथि से सम्बद्ध बताया है। परन्तु कनिंघम की यह धारणा समीचीन प्रतीत नहीं होती, क्योंकि सन्दर्भित ताम्रपत्रलेख में मन्दिर-निर्माण का कोई उल्लेख नहीं है। यह लेख महाशिवतीवर द्वारा भवदत्त एवं हरदत्त नामक ब्राह्मणों को अपने माता-पिता तथा स्वयं की पुण्यवृद्धि के लिए पेण्ठाम भुक्ति में स्थित पिम्परिपद्रक ग्राम दान में देने का

१. चित्रफलक १८ क्रमांक ४।

उल्लेख करता है। वस्तुतः हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर यह प्रमाणित कर सकना सम्भव माना जा सके कि इस मन्दिर का निर्माण महाशिवतीरवदेव द्वारा कराया गया।

जैसा कि इसी अध्याय में हम ऊपर कह आये हैं कि नल नरेश विलासतुंग द्वारा उत्कीर्ण कराये गये शिलालेख का इस मन्दिर के निर्माण से सम्बन्धित घटना से सीधा सम्बन्ध होना प्रमाणित है। इस लेख में तिथि का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु लिपि के आधार पर पुरालिपिशास्त्रज्ञों ने इसका समय निर्धारित करने का प्रयास किया है। पर इस सम्बन्ध में मतैक्य का अभाव है।

सर्वप्रथम बेगलर महोदय ने इस लेख को पढ़ने का प्रयास किया। उन्होंने इस लेख की बाइसवीं पंक्ति में ८७० अथवा ८७९ की तिथि पढ़ी थी। परन्तु डा० मिराशी ने बेगलर द्वारा प्रस्तुत पाठ को गलत निरूपित करते हुए लिखा है कि बेगलर ने जिसे ८७० अथवा ८७९ की तिथि माना है वह वस्तुतः "उत्कीर्ण" शब्द है। वर्तमान में सभी विद्वान इस मत से सहमत हैं। अतः अब यह निश्चितरूप से स्वीकार कर लिया गया है कि इस लेख में किसी तिथि का उल्लेख नहीं है। लिपि के आधार पर ए० कनिंघम ने इसका समय ८वीं-९वीं शती ई० स० निश्चित किया है। डा० डी० आर० भण्डारकर ने इसे ८ वीं शताब्दी के मध्य का माना है। डा० हीरालाल ने डा० भण्डारकर द्वारा निर्धारित तिथि का ही अनुमोदन किया है। डा०मिराशी इसे ७०० ई.स. के आस-पास का मानते हैं। वर्तमान में अधिकांश विद्वान डा० मिराशी की मान्यता को सर्वाधिक सम्भावित सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में इस मन्दिर के निर्माण की भी यही तिथि स्वीकार की जानी चाहिए। डा० मिराशी द्वारा आकलित तिथि में कुछ वर्षों का अन्तर सिद्ध किया जा सकना भले ही सम्भव हो परन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस लेख की लिपि सोमवंशी नरेश महाशिवगुप्त बालार्जुन के सिरपुर-लक्ष्मण देऊल वाले लेख की लिपि की अनुगामिनी है। इस अकेले अकाट्य तथ्य पर पूर्णरूपेण आश्रित रहकर यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि विलासतुंग का नलवंश दक्षिण-कोशल में महाशिवगुप्त बालार्जुन के सोमवंश का उत्तराधिकारी हुआ। नलवंश के अन्तिम ज्ञात शासक विलासतुंग के द्वारा यह मन्दिर बनवाया गया।

२. स्थापत्य-शैली : छत्तीसगढ़ क्षेत्रान्तर्गत राजीवलोचन मन्दिर के पूर्वापर उदाहरणों में उपलब्ध स्थापत्य-रूप का इस उदाहरण के साथ परस्पर तुलनात्मक अध्ययन कर हम इसके निर्माण की सम्भावित तिथि का अनुमान कर सकते हैं। यहाँ यह उल्लिखित कर देना अनुपयुक्त नहीं होगा कि प्राचीन दक्षिण कोशल के मन्दिर-वास्तु का क्रमबद्ध इतिहास सोमवंशियों के समय से प्रारम्भ होता है, जैसा कि इस क्षेत्र से प्राप्त प्राचीन मन्दिरों के अध्ययन से स्पष्ट है। परन्तु उपलब्ध प्राचीनतम उदाहरण में भी स्थापत्यकला का जो प्रौढ़रूप विद्यमान है उसे देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इनमें से किसी भी एक को कार्यरत स्थपतियों के कलासृजन की प्रथमावस्था की कृति नहीं माना जा सकता। इस वर्ग के प्राचीनतम कहे जा सकने वाले उदाहरण में

भी उपलब्ध वास्तुरूप वस्तुतः साधना की सुदीर्घ तथा सतत प्रवाहमयी परम्परा की परिणति का परिचायक है। अतः ऐसी स्थिति में यह कहना कदापि अनुपयुक्त न होगा कि दक्षिण-कोशल में मन्दिर-वास्तु-निर्माण का कार्य सोमवंश के अभ्युदय से भी पूर्व प्रारम्भ हो गया था। दुर्भाग्यवश इस तथ्य की प्रामाणिकता को सिद्ध करने वाले एक भी उदाहरण प्राप्त नहीं है, परन्तु इसकी सत्ता को स्पष्ट करने वाले संकेतों का एकान्तिक अभाव भी नहीं है। उदाहरण के लिए, पुजारीपाली में स्थित एक ऊँचे वर्गाकार चत्वर के चारों कोनों पर स्थापित स्तम्भों से युक्त (वर्तमान में छत हीन) वास्तु-अवशेष का उल्लेख किया जा सकता है, जो कि इस क्षेत्र के स्थपतियों की मन्दिर-वास्तु सम्बन्धी कला-संकल्पना की प्रारम्भिकतम स्थिति का द्योतक प्रतीत होता है। वस्तुतः इसे छत्तीसगढ़ क्षेत्र में मन्दिर वास्तु-कला के विकासक्रम की प्रथम स्थिति का प्रमाण माना जा सकता है।

सोमवंशी शासकों के समय के बने मन्दिरों की सबसे बड़ी विशेषता–इनके निर्माण में मिट्टी की अच्छी तरह से पकाई गयी ईंटों का वास्तु-संस्थापन के लिए अनिवार्य सामग्री के रूप में अति सामान्य रूप से प्रयोग में लाया जाना है। प्रस्तर का प्रयोग—मात्र स्तम्भों, भित्ति स्तम्भों, द्वार-शाखाओं, धरणी आदि के लिए ही किया गया है। इस वर्ग के उपलब्ध उदाहरणों में सौरीमाता मन्दिर, खरौद (जिला बिलासपुर), लक्ष्मण देऊल तथा राम देऊल, सिरपुर (जिला रायपुर), केवटीन मन्दिर–पुजारीपाली (सारंगढ़), तथा शिवमन्दिर-राणीपुर, झुराल (जिला-सम्बलपुर-उड़ीसा) विशेष उल्लेखनीय हैं। खरौद में स्थित सौरीमाता के मन्दिर को उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर इस वर्ग का ही नहीं अपुति प्राचीन दक्षिण कोशल की परम्परागत सीमा के अन्तर्गत स्थित मन्दिरों में प्राचीनतम निर्मिति माना जा सकता है। इस मन्दिर का वर्तमान महामण्डप यथेष्ट बाद की रचना होने से इसके मूल स्थापत्य रूप के विश्लेषण करने में निरुपयोगी है, परन्तु इसमें संशय नहीं कि इस मन्दिर के वास्तुरूप में महामण्डप की योजना सम्मिलित थी। वर्तमान में इस मन्दिर का विमान ही स्थापत्य कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें अधिष्ठान से लेकर शिखर पर्यन्त वास्तु योजना का सम्मुख दर्शन में जो स्वरूप निर्देशित है, वह शैली विशेष में सुदीर्घ-काल से निरन्तर कार्य करते रहने के कारण ही प्राप्त हो सका है। सौरीमाता मन्दिर के विमान के निर्माण में स्वीकृत वास्तुरूप, वास्तु-संस्थापन की तकनीक, ईंटों की चिनाई की विशिष्टता, दो अंगों को परस्पर सम्बद्ध कर उनमें आत्मिक अभिन्नता की भावना प्रकट करने के लिए प्रयुक्त बाड-तरंग तथा डाट अभिकल्प की सोद्देश्य साथ ही अलंकरणात्मक अभिव्यक्ति, अधिष्ठान को उच्च, सम, निम्न आदि क्रम से उप पीठ गढ़न्त द्वारा पूरना, जंघे का दृढ़ उत्सेध विन्यास, जंघे की पूरी ऊँचाई को व्याप्त करने वाले छद्म स्तम्भों अथवा भित्तिस्तम्भों की पंक्तिबद्ध शृंखला द्वारा बाह्य मुहार को तीन दिशाओं से आवेष्ठित रूपायित करना, जंघा और शिखर को सम्बद्ध करने वाला स्कन्ध, पिरामिडीय (शुण्डाकार) शिखर, शिखर की उपल्ली सतह के विन्यास में अलंकरणात्मक अभिप्रायों की तद्रूप प्रवाहमयता, आदि समस्त उल्लेख-

नीय वास्तुकीय विशेषताओं को पूर्ण विकास तथा अन्तिम निखार सिरपुर के लक्ष्मण देऊल में प्राप्त हुआ है।

यह हम पहले ही कह आये हैं कि दक्षिण-कोशल में सोमवंश का उत्तराधिकारी विलासतुंग का नलवंश हुआ। यह नलवंश अपने पूर्ववर्ती सोमवंश का राजनीतिक उत्तराधिकारी ही नहीं था, अपितु उसे उसकी समस्त सांस्कृतिक उपलब्धियाँ विरासत में प्राप्त हुई थीं। इस वंश के शासकों ने अपनी पूर्व पीढ़ी द्वारा प्रदत्त सांस्कृतिक परम्परा को एक ओर जहाँ सुरक्षित तथा जीवित बनाये रखने के अपने आपेक्षित दायित्व का सम्यक् रूप से निर्वाह किया, वहीं दूसरी ओर उन्हें वैयक्तिक आस्था, जन आकांक्षा तथा समसामयिक चेतना के हाथों सौंप कर विकास के लिए उन्मुक्त एवं विस्तृत वातावरण प्रदान करने के महत्वपूर्ण कार्य को व्यवहारिक रूप भी दिया। यह ऐतिहासिक तथ्य मन्दिर वास्तु-कला के क्षेत्र में पूर्णरूपेण चरितार्थ हुआ है। राजीवलोचन मन्दिर राज्य-प्रश्रय प्राप्त स्थपतियों की वह निर्मिति है, जिसमें उपर्युक्त ऐतिहासिक सत्य का सम्यक् निर्देशन है। वास्तुकर्म में पकाई हुई मृतिका ईंटों का प्रयोग सोमवंशीकालीन मन्दिर वास्तु की सामान्य परन्तु लोकप्रिय विशेषता रही है। राजीवलोचन मन्दिर के निर्माण में भी पकाई हुई मृण् ईंटों का वास्तु-संस्थापन में प्रयोग किया गया है। तकनीक तथा नियोजन-विधि में सोमवन्शी काल में स्थापित मान का अनुगमन किया गया है। इतना ही नहीं अपितु लक्ष्मण देऊल की सामान्य स्थापत्य योजना और राजीवलोचन मन्दिर की स्थापत्य-योजना में भी अभूतपूर्व समानता है। इस तथ्य विशेष की ओर सर्वप्रथम कज़िन महोदय का ध्यान आकर्षित हुआ था। उन्होंने दोनों मन्दिरों की स्थापत्य-योजना का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह मत अभिव्यक्त किया है कि राजीवलोचन मन्दिर की स्थापत्य-योजना सिरपुर लक्ष्मण देऊल की स्थापत्य-योजना की अनुकृति मात्र है।[1] डा० मिराशी[2] ने कज़िन के इस निष्कर्ष को आधार मान कर राज़ीवलोचन मन्दिर के निर्माण से सम्बन्धित जिन ऐतिहासिक तथ्यों का प्रकाशन किया है, उनका सारांश यह है कि—नलों ने सोमवन्शियों को परास्त करने के पश्चात् सम्भवत: सिरपुर को ही अपनी राजधानी बनाया होगा पश्चात् नल नरेश विलासतुङ्ग के हृदय में जब राजिम में विष्णु के मन्दिर निर्माण कराने की इच्छा जागृत हुई होगी तो उसने सिरपुर के अनुभवी स्थपतियों को इस कार्य पर नियोजित किया होगा और इन वास्तुकारों ने लोकप्रसिद्धि प्राप्त अपनी निर्मिति विशेष के अनुकरण पर इस मन्दिर का निर्माण किया होगा।

सिरपुर के लक्ष्मण देऊल की ही भाँति राजीवलोचन मन्दिर की भू-विन्यास योजना (गर्भसूत्रीय व्यवस्था) में महामण्डप, अन्तराल और गर्भगृह ये तीन अङ्ग हैं। इसी तरह सम्मुख दर्शन या उत्सेध विन्यास (ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था) में भी दोनों निर्मितियों को ऊँची जगती पर अवस्थित पाते हैं। इन दोनों उदाहरणों में अधिष्ठान

१. प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आर्क० सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डि० १९०३-१९०४ पृष्ठ ४८,
२. इपि० इण्डि० भाग २६, पृ० ५१-५२,

से लेकर जंघा पर्यन्त विमान के उत्सेध विन्यास में स्थापत्य-शैली ही नहीं अपितु अलंकरणात्मक अभिप्रायों के नियोजन-निर्देशन में भी अभिन्न सम्बन्ध स्पष्टतः दिखाई देता है। दोनों उदाहरणों में महामण्डप में प्रवेश के लिए सम्मुख की ओर अन्तिम दोनों छोरों पर पार्श्व से सोपान मार्ग युक्त प्रवेशद्वार बनाये गये हैं।

परन्तु इन सब समानताओं के होते हुए भी राजीवलोचन मन्दिर को सिरपुर लक्ष्मण देऊल की वास्तु-योजना, स्थापत्य-शैली उद्देश्यों की अभिप्रायिक अभिव्यक्ति आदि में सर्वाङ्ग अनुकृति मात्र मानना अन्यायपूर्ण होगा। दोनों मन्दिरों के वास्तु-रूपों में भिन्नता के भाव भी यथेष्ट मात्रा में विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ, सिरपुर लक्ष्मण देऊल के विमान का शिखर मूलतः नागर प्रकार का है जबकि राजीवलोचन मन्दिर के विमान के शिखर पर द्रविड़ प्रकार की शिखर शैली की स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है। सिरपुर का लक्ष्मण देऊल निरन्धार प्रकार के मन्दिर-वास्तु का उदाहरण है जबकि राजीवलोचन मन्दिर सान्धार प्रकार का है।

वास्तु-योजना तथा स्थापत्य रूप की उपरोक्त समानता एवं भिन्नता से इन निर्मितियों में पूर्वापर सम्बन्ध का होना निश्चित प्रायः है। ऐसी स्थिति में सिरपुर के लक्ष्मण देऊल को राजीवलोचन मन्दिर का आदर्श मानना अनुपयुक्त न होगा। दोनों में दृष्टव्य भिन्नता इनके स्थापत्य रूप में कालगत एवं कलागत उत्तरोत्तर विकास की स्थिति का द्योतक है। साथ ही दोनों के निर्माण काल की परिस्थितियों एवं मान्यताओं को ऐतिहासिक अनुक्रम प्रदान करने वाला भी है।

उपरोक्त समस्त तथ्यों पर विचार करते हुये ७ वीं शती के अन्तिम चरण से लेकर ८ वीं शती के प्रथम चरण के बीच इस मन्दिर का निर्माण काल स्वीकार किया जा सकता है।

इस धारणा की पुष्टि कलचुरिकालीन पलारी तथा शिवरी नारायण के ईंटों के बने मन्दिरों के स्थापत्य रूप के अध्ययन से भी होती है। ये दोनों राजीवलोचन मन्दिर की विकसित अवस्था की देन हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि छत्तीसगढ़ क्षेत्रान्तर्गत ईंटों के बने मन्दिर वास्तु के तीन विशिष्ट विकास-क्रम का स्वरूप स्पष्ट होता है। पहली अवस्था का परिचय खरौद के सौरी माता मन्दिर से लेकर सिरपुर लक्ष्मण देऊल के विकास-क्रम के रूप में मिलता है। दूसरी अवस्था का एकाकी प्रतिनिधित्व राजिम का राजीवलोचन मन्दिर करता है, तथा इस वर्ग के अन्तिम अवस्था के स्थापत्य रूप का उद्घाटन पलारी के शिव मन्दिर एवं शिवरीनारायण के विष्णु मन्दिर के द्वारा होता है।

राजीवलोचन मन्दिर की निर्माण तिथि के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन से यद्यपि हम एक निश्चित निष्कर्ष के निकट पहुँच जाते हैं, परन्तु इसे उस समय तक निर्णायक नहीं स्वीकार कर सकते जब तक डा० एम० जी० दीक्षित द्वारा प्रस्तुत विचारों की समीक्षा नहीं कर लेते। डा० एम० जी० दीक्षित[१] का मत है कि राजीव-

१. टेम्पल्स ऑफ सिरपुर एण्ड राजिम (हेरीटेज ऑफ इण्डियन आर्ट सिरीज-२) पृष्ठ २८-२९.

लोचन मन्दिर का वर्तमान वास्तुरूप भिन्न-भिन्न समय पर किये गये परिवर्तन-परिवर्धन का परिणाम है। उनका कहना है कि इस मन्दिर का निर्माण दक्षिण कोशल के शरभपुरीय शासकों के राजत्व-काल (५०० ई० स० के ग्रास-पास) में किया गया। इस ग्रवस्था में महामण्डप स्तम्भों की चार पंक्तियों पर ग्राधारित सपाट छत वाला तथा तीन ग्रोर से खुला हुग्रा था। पश्चात पाण्डवों (सोमवन्शियों) के शासन-काल में महामण्डप की पार्श्वभित्तियों का निर्माण किया गया तथा मानुषाकार देवी-देवताग्रों एवं परिचारकों की मूर्तियों से युक्त भित्तिस्तम्भों की स्थापना की गयी। इसी समय महामण्डप में प्रवेश के लिए दोनों पार्श्वों में बने प्रवेश द्वारों का निर्माण किया गया एवं इनमें ग्रत्यन्त ग्रलंकृत द्वारशाखाएँ बैठायी गयीं। उनके ग्रनुसार गर्भ-गृह के त्रिशाखयुक्त प्रवेश-द्वार का निर्माण भी इसी समय किया गया। ग्रानुषंगिक देवलिकाग्रों के वास्तुरूपों में भी इसी कालखण्ड में परिवर्तन किये गये। प्राकार के चारों ग्रोर प्राकार-भित्ति तथा प्रवेश-द्वार का निर्माण पाण्डव शासकों के बाद नल शासकों (७०० ई० स०) द्वारा किया गया। राजीवलोचन मन्दिर का प्रदक्षिणा-पथ एवं शिखर कलचुरि शासकों के समय की देन हैं।

डा० दीक्षित के उक्त विचार किस सीमा तक मान्य हो सकते हैं, यह निर्णय कर पाना ग्रत्यन्त कठिन है। इसमें संशय नहीं कि इस मन्दिर में समय-समय पर सुधार कार्य किये गये हैं। परन्तु ठोस प्रमाणों के ग्रभाव में सुधारों का स्वरूप तथा तिथि-निर्धारण कर पाना ग्रसम्भव है। राजीवलोचन मन्दिर का शिखर कलचुरि-कालीन मन्दिरों की शिखर शैली से सर्वथा भिन्न है। ग्रतः डा० दीक्षित की धारणा को भ्रमोत्पादक मानते हुए हम ग्रपनी पूर्वोल्लिखित सम्भावना को ही समुचित हल के रूप में स्वीकार करने के लिए विवश हैं।

वास्तुरूप :

इस मन्दिर की मूल कला-संकल्पना, वास्तु-संस्थापन की प्रक्रिया, स्थापत्य-शैली तथा इसके कलात्मक-सौष्ठव ग्रादि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह ग्राव-श्यक है कि इसके विविध ग्रङ्गों का यथा सम्भव सूक्ष्म ग्रध्ययन किया जाये। सुविधा की दृष्टि से हम इस मन्दिर के स्थापत्य रूप का ग्रधोलिखित स्थापत्य ग्रङ्गों के क्रम से ग्रध्ययन कर सकते हैं।

(क) प्राकार :

राजीवलोचन का मन्दिर एक विशाल ग्रायताकार प्राकार के मध्य में बनाया गया है। इस प्राकार का विस्तार पूर्व से पश्चिम की दिशा में लगभग ४४·७६ मीटर है तथा उत्तर से दक्षिण की ग्रोर इसका विस्तार ३१·०८ मीटर के लगभग है।

यह ३·६६ मीटर ऊँची प्राकार-भित्ति द्वारा चारों ग्रोर से परिवेष्ठित है। पूर्व दिशा की ग्रोर प्राकार को विस्तृत करने के उद्देश्य से प्रबन्धकों द्वारा भित्ति को बद्रीनारायण मन्दिर के पास से तोड़ दिया गया है। इस तरह मूल-प्राकार से लगभग ६१

से० मी० ऊँचा लघु आँगन बना लिया गया है। इस दिशा में एक अतिरिक्त विशाल प्रवेश-द्वार भी बना लिया गया है। परन्तु ये सब यथेष्ट बाद में किये गये परिवर्तन हैं। इसी तरह उत्तर दिशा की ओर की प्राकार-भित्ति भी मन्दिर के वर्तमान पुजारियों के मकानों की दीवाल के रूप में बदल गयी है।

प्राकार-भित्ति का वर्तमान रूप प्राचीनता की दृष्टि से महत्वहीन है और यह यथेष्ट बाद का है। परन्तु इस मन्दिर के चारों ओर का प्राकार मूल वास्तु योजना का अङ्ग रहा है। यह तथ्य इसके चारों कोनों पर बने आनुषंगिक देवलिकाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। अतः बहुत सम्भव है कि मन्दिर की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए प्राकार को चारों ओर से व्याप्त कर लेने वाली प्राकार-भित्ति का निर्माण मूल योजनानुसार बनाया गया रहा हो। इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि वर्तमान प्राकार मूल प्राकार की तुलना में यथेष्ट संकुचित है तथा इसके परिणाम स्वरूप भित्ति की चारों दिशाओं में प्रवाहमयता ने चारों अन्तिम छोरों पर बने अनुषांगिक देवलिकाओं को दो दिशाओं से उनके जंघे पर्यन्त उत्सेध-विन्यास को अपने में अर्न्तमुक्त कर लिया है।

इस प्राकार का मूल प्रवेश-द्वार पश्चिम दिशा की ओर है। वर्तमान में एक अन्य प्रवेश-द्वार पूर्व दिशा की ओर भी बना लिया गया है। जगन्नाथ मन्दिर में जाने के लिए इस प्राकार-भित्ति के उत्तर दिशा की भित्ति पर एक अन्य अतिरिक्त द्वार है। इस प्राकार की दक्षिणी तथा उत्तरी भित्ति को पश्चिम दिशा की ओर प्रलम्बित कर एक अन्य प्राकार का निर्माण कर लिया गया है। इस प्राकार के अन्दर ही राजेश्वर, दानेश्वर तथा तेलिन के मन्दिर हैं। स्थिति की दृष्टि से वर्तमान में ये सब राजीवलोचन मन्दिर समूह के देवालय हैं परन्तु वस्तुतः ये सब राजीवलोचन मन्दिर से असम्बद्ध स्वतन्त्र देवालय थे। इस व्यवस्था का एक मात्र कारण इन मन्दिरों में एक ही परिवार के पुजारियों का पिता-पुत्र क्रमानुगत स्वामित्व का होना प्रतीत होता है।

यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि राजीवलोचन मन्दिर प्राकारयुक्त मन्दिर वास्तु के प्राचीनतम उदाहरणों में से एक है, इस वर्ग का प्रथम उदाहरण पल्लव नरेशों द्वारा बनवाया गया मामल्लपुरम का सोरे मन्दिर है, जिसके अनुकरण पर काञ्चीवरम का कैलाश मन्दिर तथा ऐलोरा का कैलाशनाथ मन्दिर बनाया गया है। बहुत सम्भव है कि राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार की यह योजना दक्षिण भारतीय मन्दिर-वास्तु से प्रभावित रही हो। इस तथ्य की पुष्टि गोपुरम की परम्परा में बनाये गये प्राकार के प्रवेश-द्वार से भी होती है।

प्राकार का प्रवेश द्वार :

स्थापत्य तथा शिल्प दोनों दृष्टियों से यह प्रवेश-द्वार राजीवलोचन मन्दिर का महत्वपूर्ण अंग है। इसका निर्माण पश्चिमी प्राकार भित्ति से सन्नद्ध रूप में किया गया है।

यह पश्चिमाभिमुख तथा तकनीक की दृष्टि से त्रिशाख प्रकार का है। प्राचीन शिल्प शास्त्रों में त्रिशाखयुक्त प्रवेश द्वार को शुभ माना गया है (त्रिपंचसप्तनवभिः शाखाभिस्तत्प्रशस्यते।—वृहतसंहिता, ५६।१४)।

प्राकार की सतह से लगभग ८४ से० मी० ऊँचा तथा चार स्तम्भों एवं चार भित्ति-स्तम्भों (कुड्य-स्तम्भों) पर आधारित सपाट छत वाला एक प्रकोष्ठ इस तरह बनाया गया है कि उसका आधा विस्तार प्राकार के अन्दर है और शेष बाहर। त्रिशाख वाला यह प्रवेश-द्वार इस प्रकोष्ठ के बीचोबीच में बैठाया गया है। इस तरह निर्मिति को द्वार-प्रकोष्ठ के सजीव विग्रह का रूप दे दिया गया है। यह प्रकोष्ठ मूलतः एक होते हुए भी मध्य में स्थित प्रवेश-द्वार तथा इसके दोनों पार्श्वों में प्रलम्बमान पार्श्व-भित्ति द्वारा दो स्वाभाविक उपांगों में विभक्त हो गया है। यह विभाजन सोद्देश्य रहा है।

प्रवेश-द्वार के पश्चिम में विस्तृत बाह्य उपप्रकोष्ठ तथा पूर्व में अन्तः उपप्रकोष्ठ का यह स्थापत्य-रूप इस पीठ पर अनूठा तो है ही, साथ ही समस्त छत्तीसगढ़ की प्राचीन वास्तुकला के स्थापत्य-रूप में अपने वर्ग का एकाकी प्रतिनिधि है। इसके अतिरिक्त इस समय तक समस्त उत्तरी भारत एवं दक्खन क्षेत्र में मन्दिर-वास्तु का जो क्रमिक विकास हुआ है उसके ज्ञात ऐतिहासिक विकास-क्रम में इस प्रकार की वास्तु-योजना का एक भी दूसरा तत्सम उदाहरण अद्यावधि प्राप्त नहीं हुआ है। इसके विपरीत दक्षिण भारत में प्रारम्भिक पल्लव-वास्तु के प्रभाव से जिस मन्दिर-वास्तु का विकास हो रहा था उसमें मुख्य मन्दिर के चतुर्दिक व्याप्त प्राकार, प्राकार को परिवेष्ठित करने वाली प्रकार-भित्ति, किसी सम दिशा की ओर प्राकार-भित्ति की प्रलम्बमान भुजा को रीता छोड़कर बैठाया गया प्रवेश-द्वार, इस प्रवेश-द्वार का उत्तुङ्ग शिखर वाले स्तम्भाधारित प्रकोष्ठ, जिसका आंचलिक पारिभाषिक नाम "गोपुरम" प्राप्त होता है, के निर्माण का विशेषरूप से प्रचलन में रहना सिद्ध है। ऐसी स्थिति में राजीव-लोचन मन्दिर में बने प्राकार के द्वार प्रकोष्ठ की निर्माण सम्बन्धी कला-संकल्पना को दक्षिण भारत में विकसित द्रविड़ प्रकार की मन्दिर वास्तु-योजना के अन्तर्गत स्वीकृत "गोपुरम्" स्थापत्यरूप से अनुप्राणित मानने की सम्भावना को ओझल नहीं किया जा सकता। परन्तु इस सन्दर्भ में यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि इस द्वार-प्रकोष्ठ के निर्माण सम्बन्धी योजना के मूल में द्रविड़ स्थापत्य शैली के गोपुरम वास्तु का प्रभाव भले ही रहा हो परन्तु प्रस्तुत स्थापत्य रूप में "गोपुरम" स्थापत्य शैली के अनुकरण का कोई प्रत्यक्ष चिह्न नहीं दिखाई देता। वस्तुतः इसे द्रविड़ स्थापत्य शैली के गोपुरम् वास्तु का दक्षिण कोशल के स्थपतियों द्वारा दिया गया रूपान्तरण माना जा सकता है।

प्रत्यक्ष दर्शन में बाह्य प्रकोष्ठ तथा अन्तः प्रकोष्ठ दोनों दो मध्यवर्ती स्तम्भों तथा दो पार्श्ववर्ती भित्ति-स्तम्भों पर आधारित सपाट छत वाला ३·७४ × १·६८ मीटर के परिणाम का आयताकार वास्तु है। यह क्रमशः पश्चिम तथा पूर्व की दिशा में पूरा खुला हुआ तथा शेष दोनों ओर से पार्श्व-भित्तियों द्वारा बन्द है। इसके

पश्चिम तथा पूर्व—दोनों ग्रोर चार-चार सीढ़ियों वाला एक-एक सोपान मार्ग बना हुग्रा है।

बाह्य प्रकोष्ठ के मध्यवर्ती दोनों स्तम्भ[1] राजिम के देवालयों में वास्तु के ग्रनिवार्य ग्रंग-रूप में प्रयुक्त स्तम्भों में ग्रपने वर्ग के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। यद्यपि ये दोनों स्तम्भ निर्माण शैली, ग्राकार-प्रकार, ग्रंग-विन्यास ग्रादि स्थापत्य सम्बन्धी समस्त तकनीकी दृष्टि से समकक्षीय हैं परन्तु जहाँ बाँये तरफ का स्तम्भ ग्रपने सघन ग्रलंकरणात्मक ग्रभिप्रायों की गीतमयता, गत्यात्मकता, लयबद्धता तथा छंदात्मकता के उन्मत्त निर्देशनों द्वारा ग्रभिलषित शिल्प के ग्रत्यन्त ग्रभिराम स्वरूप को प्रकट करने में सफल हैं, वहीं दाहिने बाजू का स्तम्भ ग्रपने ग्रनलंकृत बाह्य कलेवर के कारण ग्रपूर्णता का भाव ग्रभिव्यक्त करता है।

दोनों स्तम्भ समचतुरस्र ग्राधार पीठ पर स्थित हैं। ग्राधार पीठ के ऊपर स्तम्भ के सर्वांग विग्रह को तीन उपांगों में सरलतापूर्वक विभक्त किया जा सकता है—(१) ग्रधोभाग, (२) मध्यभाग, एवं (३) शीर्ष भाग।

ग्रधोभाग पुन: दो उपखण्डों में विभक्त है। सबसे निचला हिस्सा चतुरस्र है, जबकि ऊपरी हिस्सा निधिकलश ग्रभिकल्प के प्रस्तुतीकरण की सफलतम ग्रभिव्यक्ति का उदाहरण है। इस निधिकलश के मुख से बाहर की ग्रोर सद्य: प्रवहमान पत्र-मंजरी ग्रभिप्राय का रूपांकन बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है।

मध्यभाग ग्रष्टास्र तथा षोडसास्र के चार ग्रवान्तर क्रमों में विभक्त है। सामने की ग्रोर मध्यभाग पर उभार में एक-एक पुरुष-मूर्ति गढ़ी गयी है। दोनों स्तम्भों की पुरुष-मूर्तियों को इस प्रकार से बनाया गया है कि उनका पैर से लेकर गले तक का ग्रंग सम्मुखाभिमुख है परन्तु मुख का तिरछापन यह भाव ग्रभिव्यक्त करता है मानों वे एक दूसरे की ग्रोर ग्रभिमुख हों तथा किसी एक ग्राराध्य विशेष के प्रति समान रूप से ग्रवनत हों। इन पुरुष मूर्तियों की ग्रंगयष्टि के गढ़न में द्विभंग योजना को स्वीकृत किया गया है। दाहिना पैर कटि पर्यन्त सीधा तना हुग्रा बताया गया है, जबकि बाँये पैर को पंजे के ग्रग्रभाग के बल पर टिका हुग्रा तथा घुटने के पास से सामने की ग्रोर थोड़ा-सा झुका हुग्रा निरूपित किया गया है। दोनों मूर्तियाँ कटि के ऊपर से थोड़ा सामने की ग्रोर झुकी हुई हैं, मानों ग्रभिवादन की मुद्रा का रूपांकन करना ग्रभीष्ट हो। बाँये हाथ की खुली हथेली वक्ष पर है तथा दाहिना हाथ ऊपर की ग्रोर उठा हुग्रा है। इस हाथ के पंजे खुले हुये हैं। इस विशिष्ट भावाभिव्यंजना का सम्भावित ग्रर्थ ग्रभिवादनोपरान्त किसी तथ्य विशेष की उद्घोषणा करना जान पड़ता है। यह मूर्ति घुटने तक विस्तृत कच्छा धारण की हुई दर्शित है तथा पुष्पालंकृत यज्ञोपवीत से ग्रलंकृत है। इसके हाथों में कंगन, बाहु में भुजबन्द, कानों में कर्णफूल तथा गले में वक्ष पर्यन्त झूलता हार लटक रहा है। केश राशि निश्चित क्रम में कोर कर एक लट के रूप में ग्रभिव्यक्त की गयी है। कमर पर कटार बँधा हुग्रा है।

---

१. चित्र फलक ९, क्रमांक १।

भरी मांसपेशियाँ, पुष्ट शरीर तथा समानुपातिक अंग-विन्यास के द्वारा आन्तरिक बल, ओज और संयम आदि आत्मगुणों की सफल भावात्मक अभिव्यक्ति से इसमें सजीवता का सहज-स्वाभाविक उन्मेष दिखाई देता है।

स्तम्भ के मध्य और शीर्ष भाग को परस्पर सम्बद्ध करने के लिए नाग-युग्म के परस्पर अवगुंठित शरीर-यष्टि का सम्पूर्ण स्तम्भ के व्यास को चतुर्दिक व्याप्त करने वाली मेखला के रूप में अंकन है। इन नागों के रूपायण में एक फण मुख से सम्बद्ध दो अलग-अलग दिशाओं की ओर प्रलम्बित, दो अलग-अलग शरीरों का प्रस्तुतीकरण कलात्मक दृष्टि से अद्वितीय है। इस प्रकार के कल्पनाप्रधान आलेखन के उद्देश्य आदि के बारे में वर्तमान में निश्चित रूप से कुछ कह सकना असम्भव है। सम्भवत: शिल्पी का उद्देश्य इसके माध्यम से—"स वै नैव रेमे तस्मादकाकी न रमते।"सद्वितीयमैच्छत्" (बृहदारण्यकोपनिषद्–१, ४, ३) को स्पष्ट करते हुए "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय इति" (छान्दोग्योपनिषद्–६, २, ३) सम्बन्धी औपनिषदिक तत्त्वचिन्तन को मूर्त रूप प्रदान करना रहा है।

स्तम्भ का शीर्ष भाग तीन उपांगों में विभक्त है। नाग-मेखला से सन्नद्ध ऊपर वाला भाग उलटी हुई पंखुड़ियों के अलंकरण से अलंकृत कमलाकृत रूप में है। इस कमलाकृत के ऊपर पत्रमंजरी मण्डित पूर्ण घट अभिकल्प का रूपांकन है। शीर्ष का उच्चतम भाग चत्वर परगहा के रूप में है। इस परगहे के ऊपर बैठकी तथा सबसे ऊपर धनुर्बन्धनी (कपोतपाली) है।[1]

दाहिने बाजू का स्तम्भ अलंकरणात्मक अभिप्रायों से शून्य है। इसके मध्य भाग में उभार में बनायी गयी पुरुष-आकृति के मुखमण्डन, भावभंगिमा-निर्देशन, वस्त्रालंकरण आदि के रूपायण में अधूरापन स्पष्टत: दिखाई देता है। इसी तरह नाग की शरीर-यष्टि का गढ़न भी बाँये बाजू के स्तम्भ के उदाहरण की तुलना में अधूरा है। बाँयी तरफ के स्तम्भ के चत्वर आधार पीठ, मध्य भाग के षोडसास्र वाले भाग को छोड़कर शेष अंग विविध अलंकरणात्मक अभिप्रायों के चारु उत्खचन से पूरे हुए हैं। इसके मध्य भाग पर उभार में बनाये गये पुरुष-आकृति का केश-विन्यास, विविध आभूषणों का सौन्दर्यपूर्ण गढ़न, यज्ञोपवीत की एक पुष्पलड़ी के रूप में अभिव्यक्ति, कटि में बँधे कच्छा का स्वाभाविक परन्तु सुन्दर बन्ध, वस्त्र का छीट अलंकरण आदि समस्त तथ्य अत्यन्त ही कलात्मक ढंग से तथा सूक्ष्मतापूर्वक अभिव्यक्त हैं।

इन दोनों स्तम्भों का निर्माण एक विशेष प्रकार के काले प्रस्तर से किया गया है। इस प्रकार के पत्थर का उपयोग स्तम्भ के लिए सामान्यत: नहीं किया जाता था, परन्तु मूर्ति निर्माण में इसका प्रयोग किया जाना काफी लोकप्रिय रहा है। इस पत्थर पर मूर्ति-निर्माण के पश्चात् घुटाई करने से अद्भुत चिकनापन और चमक उत्पन्न की जाती थी। परन्तु इस उदाहरण में सक्रिय प्रक्रिया का अभाव है। लगता है

---

१. चित्र फलक ९, क्रमांक २.

चित्र फलक ८, क्रमांक ४

मानों स्थपतियों तथा कलाकारों को किसी कारण विशेष के वशीभूत हो इनके निर्माण को अधूरा छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा है।

बाह्य प्रकोष्ठ के दोनों पार्श्वों की भित्तियों के भित्तिस्तम्भों का सम्मुख भाग मानवाकार नायिका मूर्तियों से मण्डित है। बाँयी तरफ की नायिका-मूर्ति यद्यपि रूप-गढ़न और आंगिक विन्यास की पूर्ण अभिव्यक्ति है, परन्तु कृति में अपूर्णता का भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह अपूर्णता केशविन्यास, वस्त्राभरण की सूक्ष्मता, भाव-भंगिमा निर्देशन आदि सौन्दर्य के रसात्मक तथ्यों को अभिव्यक्त करने वाले रूपात्मक विधानों के अभाव में प्रत्यक्ष है।[1] इसके ठीक विपरीत दक्षिण तरफ के भित्ति-स्तम्भ पर पूर्ण उभार में बनायी गयी नायिका मूर्ति की मनोहारी केशसज्जा, शिरोभूषण, विविध अलंकरणों की कलात्मक अभिव्यक्ति, सुकोमल अंगयष्टि, त्रिभंग मुद्रा, प्रत्यंचाकार भ्रूविलास, भावभंगिमा निर्देशन के लिए प्रयुक्त विशिष्ट मुद्रा, अप्रतिम सौन्दर्य को रूपांकित करने वाले रूपमण्डन का सूक्ष्मांकन, वस्त्रालंकरण का चारुचित्रण आदि के द्वारा एक सर्वांगपूर्ण कलात्मक कृति है। राजिम से प्राप्त मूर्तिकला के अनेकों उदाहरणों में इसका अपना विशिष्ट स्थान है। यह एक शृंगार-नायिका की अतीव रमणीय मूर्ति है, जिसमें आन्तरिक भावों और बाह्य सौन्दर्य के घनीभूत तत्व एकाकार हो दर्शकों के मानस पर अमिट प्रभाव डालने में सफल हैं।[2]

बाह्य प्रकोष्ठ के स्तम्भों और भित्ति-स्तम्भों (कुड्य-स्तम्भों) की तुलना में अन्तः प्रकोष्ठ के स्तम्भ तथा भित्ति-स्तम्भ (कुड्य स्तम्भ) न केवल भिन्न कला-शैली के द्योतक हैं, अपितु अपेक्षाकृत अप्रौढ़ दशा अथवा कलासाधना की प्रारम्भिक दशा के परिचायक भी हैं। अन्तः प्रकोष्ठ के मध्यवर्ती स्तम्भों पर बाह्य प्रकोष्ठ के स्तम्भों की भाँति न तो निधिकलश अभिप्राय युक्त अधिष्ठान है और न ही इनका शीर्ष पूर्णघट अलंकरण से मण्डित है। यद्यपि ये स्तम्भ भी चतुरस्र, अष्टास्र, वृत आदि क्रम में विभक्त हैं, परन्तु इनका बाह्य कलेवर सर्वथा अलंकरणहीन है।[3] इनमें से एक स्तम्भ पर ८ वीं शती की लिपि में एक व्यक्ति का नाम उत्कीर्ण है, जिसके नाम के अन्त में तुंग जुड़ा हुआ है। इस नामलेख के आधार पर इस स्तम्भ का निर्माण तथा वास्तुकीय उपांग रूप में इस स्थान पर संस्थापन का समय इस तिथि से पूर्व स्थिर करना समीचीन होगा। यह स्वीकार कर सकना अत्यन्त सन्देहास्पद है कि अन्तः प्रकोष्ठ तथा बाह्य प्रकोष्ठ के इन स्तम्भों का निर्माण लगभग एक ही समय में कलाकारों के एक वर्ग के द्वारा भिन्न-भिन्न कला-शैलियों के अनुकरण पर किया गया है। इसके अतिरिक्त यह निश्चित कर पाना भी अत्यन्त कठिन है कि किस वर्ग के स्तम्भों को मूल स्थापत्य योजना से सम्बन्धित माना जाय। यदि राजीव लोचन मन्दिर के महामण्डप के स्तम्भों के साथ तुलनात्मक अध्ययन को आधार माना जाय तो बाह्य

१. चित्र फलक १०, क्रमांक २

२. चित्र फलक १०, क्रमांक ३

३. चित्र फलक ८, क्रमांक २.

प्रकोष्ठ के स्तम्भों को मूल स्थापत्य में स्वीकृत अंग मानना होगा। परन्तु जब हम प्रयुक्त प्रस्थर के प्रकार पर ध्यान देते हैं तो अन्तः प्रकोष्ठ के स्तम्भ बाह्य प्रकोष्ठ के स्तम्भों की तुलना में अधिक प्राचीन सिद्ध होते हैं। इस स्थिति के बाद भी यह स्वीकार करने के लिए यथेष्ट कारण है कि अन्तःप्रकोष्ठ का विस्तार यथेष्ट बाद का है, तथा इसके विस्तारकर्त्ताओं ने यहाँ के किसी भग्न अन्य स्मारक की सामग्रियों का प्रयोग इस कार्य के लिए कर लिया है। परन्तु यदि यह स्वीकार करलें कि अन्तःप्रकोष्ठ भी मूल स्थापत्य से सम्बन्धित अंग रहा है, तो ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि कालान्तर में जब इसका जीर्णोद्धार किया गया होगा तब उस समय उक्त प्राचीन सामग्रियों को अन्यत्र से लाकर यहाँ स्थापित कर दिया गया।

इस धारणा की पुष्टि भित्ति-स्तम्भों की मूर्तियों के अध्ययन से भी हो जाती है। बाह्य प्रकोष्ठ के बायें बाजू के भित्ति-स्तम्भ की मूर्ति के अधूरे होने से प्रमाणरूप में उसका अध्ययन विशेष उपयोगी नहीं है। परन्तु दक्षिणी भित्ति-स्तम्भ की शृंगार-नायिका की मूर्ति इस सन्दर्भ में विशेष महत्वपूर्ण है। इस मूर्ति की शिल्पशैली, रूप मण्डन की विशेषताएँ आदि प्रवेश द्वार के पाखों (शाखाओं) पर बनी नारी मूर्तियों से मिलती-जुलती हैं। इससे इनकी परस्पर समकालीनता सम्बन्धी अनुमान को तर्कसंगत आधार मिलता है। प्राकार के इस प्रवेश द्वार तथा राजीव लोचन मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेशद्वार के पाखों (शाखाओं) पर उत्खचित मूर्ति-शिल्प का तुलनात्मक अध्ययन करने पर दोनों की समकालीनता एवं एक ही स्थापत्य योजना से सम्बद्धता का अनुमान सत्य प्रतीत होता है। अतः ऐसी स्थिति में बाह्य प्रकोष्ठ के भित्तिस्तम्भों को मूल स्थापत्य का अंग माना जा सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि बाह्य प्रकोष्ठ के भित्ति-स्तम्भ तथा मध्यवर्ती स्तम्भ दोनों एक ही काल की निर्मितियाँ हैं। इसके विपरित अन्तःप्रकोष्ठ की मूर्तियाँ जो शालभंजिकाओं की प्रतिमाऐं हैं, लाल पत्थर की बनी हुई है। इसमें से एक मूर्ति सम्मुख दर्शन में चपटापन के लिए होने के कारण यथेष्ट प्राचीन जान पड़ती है। दूसरी प्रतिमा भी बाह्य प्रकोष्ठ के भित्ति-स्तम्भों की प्रतिमाओं की तुलना में प्राचीन ठहरती है।

द्वार-प्रकोष्ठ की स्थापत्य-योजना पर विचार करने के पश्चात् इस वास्तु-संयोजन के प्रमुख अंग प्रवेश द्वार का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है।

मन्दिर प्रांगण में प्रविष्ट होने के लिए बनाया गया यह प्रवेशद्वार स्थिति में पश्चिमाभिमुख तथा वस्तुरूप लक्षण में त्रिशाख प्रकार का है। यहाँ पर इस सन्दर्भ में यह उल्लिखित कर देना अनुचित नहीं होगा कि प्राचीन शिल्पशास्त्रों में शाखों की असम संख्या से युक्त प्रवेश द्वार को शुभ माना गया है। प्राचीन दक्षिण कौशल क्षेत्रान्तर्गत मन्दिर-वास्तु-योजना के विकासक्रम को निर्देशित करने वाले प्रमाणरूप उदाहरणों में राजीवलोचन का मन्दिर एक है और इस मन्दिर का यह प्रवेशद्वार मन्दिर-वास्तु-योजना में स्वीकृत अभिनव स्थापत्य-रूप का एकाकी प्रतिनिधि है। मन्दिर-स्थापत्य के इतिहास में इसे एक ओर जहाँ आंचलिक विकास की देन का प्रतीक माना जा सकता है, वहीं दूसरी ओर दक्षिण भारत की द्रविड़-शैली के स्थापत्य-रूप के प्रभाव

को निर्देशित करने वाला भी कहा जा सकता है। इस तरह एक ओर जहाँ अन्तः तथा बाह्य प्रकोष्ठों से युक्त इस प्रवेश-द्वार के वास्तु-संस्थापन में द्रविड़ शैली के 'गोपुरम्' की स्थापत्य सम्बन्धी विशिष्टता को स्वीकार करने का प्रयास लक्षित है, तो दूसरी ओर अन्धानुकरण की भावना को तिरोहित करते हुए स्थपतियों द्वारा इसे मौलिक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास भी स्पष्ट है। इस प्रयास की परिणति स्थूल दृष्टि से वास्तु संस्थापन की आंचलिक विशिष्टता के रूप में प्रकट हुई है। पर सूक्ष्मरूप से विचार करने पर हमें यहाँ उत्तर भारतीय परम्पराओं को भी समान रूप में स्वीकार करने का प्रयास दिखाई पड़ता है। बाह्य प्रकोष्ठ के मध्यवर्ती स्तम्भों का सामान्य रूप-मण्डन तिगोवा से प्राप्त गुप्तकालीन मन्दिर के स्तम्भों का विकसित रूप है। त्रिशाख वाला यह प्रवेश-द्वार गुप्तकालीन मन्दिरों के प्रवेश-द्वार की परम्परा में है, और कालान्तर में हुए स्वाभाविक विकास की अवस्था का प्रतीक है। इस प्रवेश-द्वार को देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानों देवगढ़ के गुप्तकालीन दशावतार मन्दिर के प्रवेश-द्वार तथा दक्षिणकोशल के सोमवंशी नरेश महाशिवगुप्त बालार्जुन के राजत्वकाल में बने सिरपुर के लक्ष्मण देऊल के प्रवेश-द्वार को आदर्श मानकर स्थपतियों ने इसके वास्तु-संस्थापन एवं रूपमण्डन का कार्य पूरा किया है। इस तरह यह प्रवेश द्वार मन्दिर-स्थापत्य के आंचलिक विकास के ऐतिहासिक क्रम को प्रत्यक्ष करने वाला उदाहरण तो है ही, साथ ही यह अपनी मूल-वास्तु-योजना, वास्तु-संस्थापन तथा रूप-मण्डन में उत्तर-भारतीय एवं दक्षिण भारतीय परम्पराओं में परस्पर समन्वय स्थापित करने वाला महत्वपूर्ण उदाहरण भी है।

इस प्रवेश-द्वार का वास्तुकीय दृष्टि से महत्व तो है ही, मूर्तिशिल्प की दृष्टि से भी इसका महत्व किसी रूप में कम नहीं है। न केवल छत्तीसगढ़ क्षेत्रान्तर्गत ही अपितु सम्पूर्ण देश में उत्तम उकेरी के जो श्रेष्ठतम उदाहरण प्राप्त हैं, उनमें से यह एक माना जा सकता है। इसके पंखों (शाखों) पर छन्द-परम्परा तथा चित्रशैली में विविध अभिप्रायों को अध्युच्चित्र, निम्नोच्चित्र, मध्योच्चित्र अथवा ऊँची मंबतकारी द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि मंबतकारी द्वारा छन्दबद्ध रूप में गुप्तकालीन तथा पूर्व मध्यकालीन मन्दिरों के द्वार शाखाओं पर मूर्तिशिल्प का विविध अभिप्रायों के माध्यम से जो क्रमिक विकास दिखाई देता है उसका प्रारम्भ प्रारम्भिक बौद्ध-स्तूपों के तोरणद्वारों में अभिव्यक्त कला-शैली से हुआ है। इस प्रवेश-द्वार के पाखों पर अभिलिखित कलारूपों में शिल्पियों की सौन्दर्यानुभूति तथा भाव प्रवणता की उदात्त अभिव्यक्त है। प्रवेशद्वार के पाखों (शाखाओं) तथा सिर-दलों की इन्च-इन्च भूमि कलाकार की सूक्ष्मानुभूति से अनस्यूत कला की स्निग्ध एवं मधुर रसों की निष्पत्ति द्वारा अनन्त जीवन की शाश्वत प्रतिष्ठा के लिए उन्मुख भासित होती है। उकेरे गये विविध अभिप्रायों में–प्रमथ, मांगल्य विहग, पत्रलता, मिथुन, नागों का अर्थ मानुषी रूप में अंकन तथा अन्य अलंकरणात्मक अभिकल्प प्रमुख हैं। इनमें से अधिकांश अभिप्रायों का उल्लेख वराहमिहिर की बृहत् संहिता में प्राप्त होता है। वराहमिहिर ने प्रासाद के प्रवेश-द्वार के शाखाओं पर प्रतिहारी, मांगल्य विहग,

श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, पूर्णघट, मिथुन पत्रावली, प्रमथ आदि के रूपांकन करने का शिल्प-शास्त्रीय विधान प्रस्तुत किया है।—

अधः शाखाचतुर्भागे प्रतिहारौ निवेशयेत् ॥१४॥
शेषं मंगल्य-विहगैः श्रीवृक्षस्वस्तिकैर्घटैः।
मिथुनैः पत्रपल्लीभिः प्रमथैश्चोपशोभयेत् ॥१५॥
(वृहत् संहिता—५६)

दोनों बाज़ू का प्रथम पाख (शाख) निधि कलश से निसृत कल्पलता अभिप्राय द्वारा अलंकृत है। यह कल्पलता इन दोनों पाखों पर आश्रित प्रथम सिरदल के ललाटबिम्ब को छोड़कर शेषभाग को व्याप्त कर लेती है। इस कल्पलता के अभिप्राय को मूर्त करने वाली रेखाओं की गम्भीरता, गत्यात्मकता, छन्दबद्धता तथा प्रवाह-मयता प्रौढ़कला के प्रतीक हैं एवं इन गुणों की रूपार्चना से कलात्मक सौष्ठव को आत्मप्रकाशन के लिए अनुकूल पीठ प्राप्त हुआ है। अपनी इस कृति में चिरन्तन सौन्दर्य और लावण्य की प्रतिष्ठा से लिए कलाकार ने एक ओर जहाँ अति भंग और घुमाव को आपेक्षित उभार में अभिव्यक्त करने की योजना को आधार रूप में स्वीकार किया है, वहीं दूसरी ओर सौन्दर्य की नैसर्गिकता की स्थापना के लिए इस अनेक-भंग-कुटिल पत्रावली अलंकरण में प्राकृतिक एवं दिव्य दोनों भावों की समन्वयात्मक अभि-व्यक्ति के लिए शुक-सारिका आदि अनुराग के प्रतीक पक्षियों, मोह, काम एवं काल के प्रतीक नागों, तथा बिहार की विविध मुद्राओं में अतिमानुषी सौन्दर्य के प्रतीक यक्षों का आलेखन बीच-बीच में किया है।

प्रथम सिरदल के ललाट बिम्ब पर कमल पीठ पर पद्मासन में बैठी चतुर्भुजी महालक्ष्मी की प्रतिमा है। इसके दोनों पार्श्वों में थोड़ा ऊपर उठकर एक-एक पूर्ण उत्फुल्ल कमल पर खड़ी गज मूर्तियाँ हैं, जिनके उर्ध्वोन्मुख सूँड में सद्यः प्रवहमान जलधारा से युक्त अधोमुख कलश है। देवी के दोनों पार्श्व में क्रमशः एक-एक चामर-धारिणी की प्रतिमा है।

द्वितीय शाख चार छन्दों में विभक्त है। दोनों तरफ के निचले दो छन्द मिथुन मूर्तियों से भरे गये हैं। इन मिथुन मूर्तियों के ऊपर के दो छन्द पंच फण छत्र युक्त अर्धमानुषी नाग की एक-एक मूर्ति द्वारा आवेष्ठित है। इस शाख पर रूपायित इन मिथुन मूर्तियों में शृंगार और अनुराग की सुकोमल वृत्तियों को, आसक्ति और सम-र्पण की विभिन्न अवस्थाओं को अत्यन्त ही सम्प्रेषणशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। मानव-मन की तरंगों, आकांक्षाओं, अभिलाषाओं आदि को प्रस्तुत करने में इस पीठ पर शिल्पी की सफलता अद्वितीय है। करबद्ध मुद्रा में पंचफण छत्र युक्त अर्ध-मानुषी नागों की अभिव्यक्ति में दीर्घकालीन कला-साधना की परम्परा की ऐतिहासि-कता उमगी पड़ रही जान पड़ती है।

इस द्वितीय शाख पर आधारित मध्य सिरदल के दोनों बाज़ू के अन्तिम छोरों पर आलिंगनबद्ध अर्धमानुषी रूप में नाग-नागिन की मूर्तियाँ उकेरी गयी हैं। इस सिर-दल के ललाटबिम्ब पर गरुड़ की वीरासन में बैठी मानुषी प्रतिमा है। गरुड़ की

अभिव्यक्ति में सम्पूर्ण शरीर को जहाँ मानुषी विग्रह में रूपांकित करने का प्रयास किया गया है, वहीं दूसरी ओर इस प्रतिमा के दोनों पार्श्वों से बाहर की ओर फैले हुए पंख तथा लम्बी नुकीली नासिका की अभिव्यक्ति द्वारा इसके पक्षीराज रूप को प्रकट किया गया है। इसे दोनों हाथों में क्रमशः एक-एक फणयुक्त नाग को पकड़े हुए बताया है। गरुड़ के दोनों पार्श्वों में एक-एक पंचफणछत्रयुक्त अर्धमानुषी नाग की करबद्ध मुद्रा में आलेखन है। इस तरह समस्त सिरदल पुराणों तथा अन्य साहित्यिक उल्लेखों में वर्णित गरुड़ सम्बन्धी कथा का सफल चित्रण करने में नियोजित कर लिया है। नाग तथा गरुड़ मूर्ति का आलेखन शिल्पशास्त्रीय विधानुसार है।

तृतीय शाख के दोनों बाजू में सबसे निचले हिस्से में परशु लिये प्रथम रूप में प्रतिहारी की प्रतिमा है। इस प्रथम मूर्ति के ऊपर से यह शाख दो उपांगों में विभक्त हो गया है। एक पर मिथुन मूर्तियाँ तथा पंचफणछत्रयुक्त नाग की अर्धमानुषी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं एवं दूसरे पर कल्पलता अभिकल्प का आलेखन है। इस शाख पर आधारित द्वितीय सिरदल के लालटबिम्ब पर अनन्तशायी विष्णु की अत्यन्त ही मनोरम मूर्ति है। इसमें चतुर्भुज विष्णु अनन्त शैय्या पर पूर्वोत्थिककाय मुद्रा में अपनी योगनिद्रा में लीन बताये गये हैं। उनका दाहिनी जानु नमित है। लक्ष्मी को चरण-संवाहन करती हुई बताया गया है। दाहिने हाथ में चक्र दिखाया गया है। भगवान विष्णु की नाभि से निःसृत कमलनाल के शीर्ष पर पूर्ण उत्फुल्ल कमलासन पर ब्रह्मा को बैठे हुए दिखाया गया है। विष्णु के सिर तथा पैर की दिशा में क्रमशः दो-दो पुरुषाकृतियाँ हैं, जिनके हाथ में विशिष्ट आयुध हैं। यह आयुध टूटे हुए तथा घिसे हुए होने के कारण गदा के समान प्रतीत होता है परन्तु लेखक का अनुमान है कि शिल्पी ने इन चार आकृतियों के माध्यम से चार आयुध-पुरुषों की उपस्थिति को अभिव्यक्त करना चाहा है।

सिरदल के इस मध्यवर्ती लालटबिम्ब के दोनों पार्श्वों पर मकरमुख से निकलती मानवाकृतियाँ उकेरी गयी हैं। इन मानवाकृतियों को हाथों में खड्ग और ढाल धारण किया हुआ बताया गया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रवेश द्वार के निर्माण में शिल्पियों ने अपनी कलात्मक प्रौढ़ता का परिचय दिया है। इसके पाखों तथा सिरदलों पर मूर्तिशिल्प का अत्यन्त ही भावपूर्ण, आध्यात्मिक, गम्भीर, रमणीय, ललितः मधुर तथा सजीव रूपायण हुआ है।

(ग) जगती

प्राकार के मध्य में एक ऊँची जगती पर राजीवलोचन मन्दिर का निर्माण किया गया है। यह पूर्व से पश्चिम की ओर २१-०२ मीटर तथा उत्तर से दक्षिण की ओर १३-१ मीटर (४३ फुट) के विस्तार क्षेत्र में व्याप्त है। प्राकार की भूसतह से

---

१. चित्र फलक १०, क्रमांक १

इसकी ऊँचाई २·४४ मीटर (८ फुट) है। इस जगती का निर्माण निश्चित आकार-प्रकार के काटे-तरासे गये प्रस्तर खण्डों से किया गया है। यह जगती अपनी लम्बाई चौड़ाई तथा ऊँचाई के परिणाम में सिरपुर के लक्ष्मण देऊल की जगती की दिव्यता एवं अभिरामता की तुलना में समान स्तर के कलात्मक संवेग का परिचय देती है। यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि राजीवलोचन मन्दिर की इस जगती की ऊँचाई के परिमाण के लगभग आधे परिमाण में प्राकार के द्वार-प्रकोष्ठ की ऊँचाई है, तथा प्राकार के द्वार प्रकोष्ठ की ऊँचाई के परिमाण के लगभग आधे परिमाण में प्राकार के चारों कोनों पर बनाये गये आनुषंगिक देवलिकाओं की जगती की ऊँचाई है। समष्टिगत रूप में ऊँचाई के इस परिमाणिक अनुपात का उद्देश्य मुख्य मन्दिर की उच्चता सम्बन्धी अनुभूति में तीव्रता उत्पन्न करना रहा है। जगती के वस्तु-संस्थापन की यह विशिष्टता स्थपतियों के तकनीकी ज्ञान तथा कलात्मक सूझ-बूझ की परिचायिका है।

(घ) भू-विन्यास (गर्भ-सूत्रीय व्यवस्था) :

गत अध्याय में यहाँ के मन्दिरों के सामान्य वास्तु-रूप का अध्ययन करते समय हमने इस तथ्य की ओर संकेत कर दिया है कि किसी भी वास्तुरूप का सम्यक्‌रूप से अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके भू-विन्यास-योजना तथा उत्सेध विन्यास-योजना का यथासम्भव सूक्ष्मतापूर्वक परीक्षण, विश्लेषण तथा विवेचन किया जाय।

भू-विन्यास-योजना में राजीवलोचन का मन्दिर—महामण्डप, अन्तराल, गर्भगृह और प्रदक्षिणापथ इन चार विशिष्ट अंगों में विभक्त है। इन चारों वास्तु अंगों का अलग-अलग वर्णन करना समीचीन होगा।

१. महामण्डप : इस मन्दिर वास्तु का यह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण अंग है। सिरपुर के लक्ष्मण देऊल के महामण्डप के समान ही यह भी एक आयताकार वास्तु-रूप है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि नागर प्रकार के प्राचीन मन्दिरों में महामण्डप सामान्यतः वर्गाकार बनाये जाते थे, परन्तु राजिम के प्रायः सभी मन्दिरों की ही भाँति इस मन्दिर का यह महामण्डप भी आयताकार है। शिल्प शास्त्रों तथा प्राप्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि बेसर प्रकार का मन्दिर भूविन्यास में वृत्तायत हुआ करते थे। इस वृत्तायत को द्वयस्र भी कहा जाता था तथा इस द्वयस्र से ही बेसर नामाभिधान प्रसिद्ध हुआ। बहुत सम्भव है कि राजिम के मन्दिर समूह में पाये जाने वाले महामण्डप का यह आयताकार रूप बेसर प्रकार के मन्दिरों के आयताकार महामण्डप की स्थापत्य योजना से प्रभावित रहा हो। चूँकि यहाँ के शेष मन्दिरों पर राजीवलोचन मन्दिर की स्थापत्य योजना का गहरा प्रभाव रहा है, अतः इसे बेसर शैली से प्रभावित यहाँ का प्रथम उदाहरण कहा जा सकता है।

---

१. चित्र फलक ११

इसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर ११-४६ मीटर (३७ फुट ६ इंच) तथा चौड़ाई उत्तर से दक्षिण की ओर ५.१८ मीटर (१७ फुट) के परिमाण में है।

सिरपुर के लक्ष्मण देऊल के अनुकरण पर इस महामण्डप में आने-जाने के लिए दो प्रवेश मार्ग सामने के अन्तिम छोर के दोनों पार्श्वों में बनाये गये हैं। यह महामण्डप पश्चिमाभिमुख है तथा पश्चिम की दिशा में लक्ष्मण देऊल की स्थापत्य-परम्परा में पूरा खुला हुआ है। प्रवेश-द्वार को सुगम बनाने के लिए दोनों पार्श्वों पर क्रमशः चार-चार सीढ़ियों वाला एक-एक सोपान मार्ग बना हुआ है। इस सोपान-मार्ग के निर्माण से सम्बन्धित तकनीक पर जब हम विचार करते हैं तो विदित होता है कि यहाँ पर भी सिरपुर के लक्ष्मण देऊल की स्थापत्य-योजना के अनुकरण को आधार माना गया है। महामण्डप के प्रवेश-द्वार की अन्तः भित्ति कल्पलता अभिकल्प द्वारा अलंकृत है। लतावल्लरियों के बीच-बीच में विहार-रत यक्षों की विभिन्न भाव-भंगिमाओं तथा मुद्राओं में मूर्तियाँ उकेरी गयी हैं। कहीं-कहीं मांगल्य विहगों का भी रूपायन है। जहाँ से कल्पलता अभिकल्प के बाँध को प्रारम्भ किया गया है उसके नीचे हरि हंस (दिव्यसुपर्णाः) का मोती चुगते हुए अत्यन्त ही अलंकरणात्मक ढंग से रूपायण है।[1] समस्त दृश्य प्राकार के प्रवेश-द्वार के प्रथम पाख (शाख) के शिल्प की अनुकृति भासित होता है। परन्तु एक ही अभिकल्प का अलंकरणार्थ एक से अधिक स्थानों पर रूपायण होते हुए भी वे पुनरावृत्ति दोष से सर्वथा मुक्त हैं तथा हर पीठ पर उनमें निहित स्वाभाविक मौलिकता एवं अप्रतिम सौन्दर्य की अनुभूति से अभिभूत दर्शक रसानन्द समाधि के अनन्त लोक में विचरण करने लगता है।

यह महामण्डप उत्तर तथा दक्षिण दिशा की ओर से पार्श्वभित्तियों द्वारा बन्द है, जब कि पश्चिम दिशा की ओर से पूरा खुला हुआ है तथा पूर्व की ओर मन्दिर के प्रमुख अंग गर्भगृह से सम्बद्ध है। इस महामण्डप का सपाट छत स्तम्भों की दो मध्यवर्ती पंक्तियों, तथा भित्ति-स्तम्भों की दो पंक्तियों पर आधारित है। प्रत्येक पंक्ति में स्तम्भों एवं भित्ति-स्तम्भों की संख्या छः है। इस तरह महामण्डप में कुल १२ स्तम्भ तथा १२ भित्ति-स्तम्भ हैं।

उत्तम उकेरी तथा कलात्मक शिल्प वैभव के कारण वास्तुकीय के साथ-साथ मूर्तिकला की दृष्टि से भी यहाँ के स्तम्भ महत्वपूर्ण हैं। सम्मुख दर्शन में दृष्टव्य भिन्नता के आधार पर इन स्तम्भों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

दोनों कतारों के प्रथम एक-एक स्तम्भ की निर्माण-शैली शेष स्तम्भों से भिन्न प्रकार की है। ये दोनों स्तम्भ चत्वर पीठ पर स्थापित किये गये हैं। इनका अधो-भाग समचतुरस्र प्रकार का है जिन पर मुक्ता-मनका, पुष्प तथा पत्रावली अलंकरण हैं। इसके ऊपर का भाग अष्टास्र रूप में कोरा गया है। इस अष्टास्र पर गजलक्ष्मी, कुबेर, मकर, सिंह तथा वाराह के युद्ध का दृश्य एवम् सिंह से युद्ध करते पुरुष आदि का मनोरम रूपांकन है। इस अष्टास्र के कोनों पर दो शरीर तथा एक मुख वाले

---

१. चित्र फलक २७, क्रमांक ३

सिंह की आक्रामक आकृतियाँ हैं। इसके ऊपर के भाग को षोडशास्त्र रूप में काटा-तरासा गया है। एक स्तम्भ में यह षोडसास्त्र वाला भाग अलंकरणहीन है परन्तु दूसरे में यह विविध प्रकार के पत्रावली अलंकरणों से पूरा हुआ है। इस षोडशास्त्र से ऊपर वाले अंग को एक पर एक बैठाये गये वृत्तों के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। इन वृत्तों का वाह्य कलेवर भी कहीं ज्यामितिक तो नहीं फुल्लावली आदि विविध अलंकरणों से अलंकृत है। इन वृत्तों के ऊपर लौटी हुई कमल पंखुड़ियों के अलंकरण से युक्त बैठकी तथा इस पर स्थापित पूर्ण कुम्भ है। पूर्ण कुम्भ के ऊपर चौकोर धरणी तथा धरणी के उपर धनुर्बंधनी है।

शेष स्तम्भ निर्माण-शैली की दृष्टि से सामान्यतः एक ही प्रकार के दिखाई देते है, पर इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। एक वर्ग उन स्तम्भों का है जो चौकोर आधार पीठ पर स्थापित किये गये हैं तथा जिनका अधोभाग समचतुरस्र प्रकार का है। दूसरे वर्ग में वे स्तम्भ सम्मिलित किये जा सकते हैं, जिनके अधोभाग को निधिकलश के रूप में कोरा सँवारा गया है।[1] इस एक अन्तर के अतिरिक्त इन स्तम्भों में न तो वास्तु की दृष्टि से और न ही शिल्प की दृष्टि से कोई भेद है। सभी स्तम्भों का शीर्ष उलटी हुई कमल पंखुड़ियों से अलंकृत बैठकी तथा पत्र-मंजरी-युक्त पूर्ण घट वाले शीर्ष से युक्त है। पूर्ण घट के ऊपर चौकोर धरणी तथा इस धरणी के ऊपर धनुर्बंधनी (कपोतपाली) की संरचना में भी एकरूपता है।

दोनों तरफ की पार्श्व भित्तियों से सन्नद्ध भित्ति-स्तम्भों (कुड्य स्तम्भों) की वास्तुकीय संरचना में भी कोई भेद नहीं है। इन भित्ति-स्तम्भों के सम्मुख भाग को काट-तरास तथा कोर-सँवार कर इन पर मानवाकार मूर्तियाँ उभार में गढ़ी गयी हैं। इन मूर्तियों की निर्माण सम्बन्धी मूल भावना तथा प्रेरणा का आधार प्रारम्भिक बौद्ध स्तूपों के वेदिका स्तम्भों पर बनायी गयी मूर्तियाँ रही हैं। इस सम्बन्ध में हमने पूर्व अध्याय में उल्लेख किया है। यहाँ पर इतना कह देना और उचित होगा कि भित्ति-स्तम्भों पर इस प्रकार की मूर्तियों का निर्माण सामान्यतः नागर शैली के प्रारम्भिक मन्दिर-वास्तु में देखने को नहीं मिलता। परन्तु द्रविड़ शैली के मन्दिरों में कुड्य-स्तम्भों पर मूर्ति बनाने की परम्परा प्रचलित थी। राजिम के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ के ही किसी अन्य स्थान से प्राप्त प्राचीन मन्दिर में इस प्रकार की योजना का दर्शन नहीं हो पाता। अतः कहा जा सकता है कि मानवाकार मूर्तियों से युक्त भित्ति-स्तम्भ की योजना राजिम के मन्दिर-वास्तु की अपनी विशेषता है जो दक्षिण भारतीय द्रविड़ मन्दिर-वास्तु से अनुप्राणित प्रतीत होती है।

बाँयी पार्श्व-भित्ति के प्रथम भित्ति-स्तम्भ पर प्रभा-मण्डल युक्त पुरुष की खड़ी प्रतिमा है, जिसके एक हाथ में धनुष है तथा दूसरा हाथ कमर पर है। इस मूर्ति के कमर पर कटार बंधा हुआ है तथा यह सिर में मुकुट, भुजाओं में भुजबंध, हाथ में कड़े, कानों में कुन्डल, गले में हार, स्कन्ध पर लटकता यज्ञोपवीत धारण किया हुआ

---

१. चित्र फलक ८, क्रमांक ५

है । इसकी राजसी वेषभूषा, विशेष रूप से आकर्षक है । इस मूर्ति के गढ़न में आन्तरिक शक्ति और शौर्य को मुख-मण्डल की ओजपूर्ण भंगिमा द्वारा प्रकट करने में शिल्पी ने जिस योग्यता और प्रौढ़ता का परिचय दिया है, वह प्रशंसनीय है । यह किसी राज पुरुष की प्रतिमा मानी जा सकती है । इस पंक्ति के दूसरे भित्ति-स्तम्भ पर कट्यवलम्बित मुद्रा में एक नारी मूर्ति का रूपायण हैं । अत्यधिक टूटी हुई होने तथा सीमेन्ट द्वारा इसके टूटे-घिसे अंगों को पूरने के प्रयास से उत्पन्न परिवर्तनों के कारण इस मूर्ति की पहचान कर पाना असम्भव-सा है । तीसरे भित्ति-स्तम्भ पर पत्र-पुष्प से आच्छादित (अशोक) वृक्ष के नीचे त्रिभंग मुद्रा में एक नारी की मूर्ति है, जिसका एक हाथ वक्ष प्रदेश के पास वार्तालाप की विशिष्ट मुद्रा के निर्देशक रूप में है तथा दूसरा हाथ पार्श्व में खड़े पुरुष के स्कन्ध को लपेटे हुए दिखाया गया है । पुरुष मूर्ति में प्रमथ की प्रतिमा लक्षणों का अभाव है, परन्तु वह नारी मूर्ति की तुलना में अपेक्षाकृत लघुकाय वाली है । इस पुरुष को हाथ में सर्प थामें हुए अभिव्यक्त किया गया है । लोग अज्ञानतावश इसे सीता की प्रतिमा मानते हैं । परन्तु वस्तुतः यह शृंगारिक भावनाओं से सम्बन्धित मूर्ति है । सर्पयुक्त पुरुष काम का प्रतीक है । अतः यह रतिसुखाभिलाषिणी अभिसारिका नायिका की मूर्ति जान पड़ती है । सुग्गे की उपस्थिति से इस विचार की पुष्टि होती हैं ।[1] चौथे, भित्ति-स्तम्भ पर मकरवाहिनी गंगा की मूर्ति त्रिभंग मुद्रा में अभिव्यक्त की गयी है । पाँचवे, भित्ति-स्तम्भ का सम्मुख प्रदेश विष्णु के नृसिह अवतार की मूर्ति से मण्डित है । नृसिंह के गढ़न में शक्ति, शौर्य, तेज आदि भावों की अभिव्यक्ति में कलाकार सफल रहा है । छठे, भित्ति-स्तम्भ पर पुरुष परिचारक की प्रतिमा बनायी गयी है ।

दाहिने बाजू के भित्तिस्तम्भों में मूर्तियों का विषयगत सम्बन्ध वाम पार्श्व के भित्ति-स्तम्भों की मूर्तियों से स्थापित करने का प्रयास किया गया है । दाहिने बाजू के प्रथम भित्ति-स्तम्भ पर बायें बाजू के भित्ति-स्तम्भ की मूर्ति के समकक्षीय राजपुरुष की प्रतिमा है । इन दोनों प्रतिमाओं में न केवल लाक्षणिक गुणों की अभिव्यक्ति तथा निर्देशन-रूपायण में समानता स्थापित करने का प्रयास है, अपितु रूप-मण्डन, भावभंगिमा, निर्देशन आदि में भी समूल एकरूपता लाने की सफल चेष्टा है । दाहिने पार्श्व के दूसरे भित्ति-स्तम्भ पर अष्टभुजी दुर्गा को प्रतिमा है । तीसरे भित्ति-स्तम्भ पर आम्र-वृक्ष की छाया में खड़ी नारी का त्रिभंग मुद्रा में आलेखन है । इस नारी मूर्ति के पार्श्व में अपेक्षाकृत लघुकाय वाला पुरुष विग्रह रूपायित है । इसमें संशय नहीं कि इस दृश्य का भी सम्बन्ध शृंगारिक भावनाओं से है । चौथे भित्ति स्तम्भ पर कूर्मवाहिनी यमुना की मूर्ति है । पाँचवे पर भगवान विष्णु के नृवाराह रूप का मूर्तिरूप में चित्रण है । छठे भित्तिस्तम्भ पर पुरुष परिचारक की मूर्ति है ।

२. अन्तराल : अन्तराल गर्भगृह और महामण्डप के मध्य में बनाया जाने वाला

---

१. इस प्रतिमा के प्रतीकात्मक भाव के सम्बन्ध में मूर्तिकला वाले अध्याय में विचार किया गया है ।

वास्तु-रूप था । वर्तमान में यह १·९३ मीटर (६ फुट ४ इंच) के व्यास में वर्गाकार वास्तु-रूप है ।

अन्तराल और महामण्डप को परस्पर सम्बद्ध करने के लिए एक प्रवेश द्वार बनाया गया है, जो गर्भगृह का भी प्रवेश-द्वार है । यह प्रवेश-द्वार प्राकार के प्रवेश-द्वार की ही भाँति त्रिशाख प्रकार का है । इस प्रवेश द्वार के सिरदल के ललाटबिम्ब को छोड़कर शेष अंगों का शिल्पविधान तथा उनकी विषयगत सम्बद्धता भी प्राकार-प्रवेश-द्वार से मिलती-जुलती है । इस समानता का संभावित उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि इन दोनों प्रवेश-द्वारों के पाखों (शाखाओं) पर समान विषय को एक ही शिल्प-शैली में मूर्तरूप प्रदान कर शिल्पियों ने इनका एक और केवल एक ही मूल वास्तु से सम्बद्धता को प्रकट करना चाहा है ।

इस प्रवेश-द्वार के प्रथम पाख (शाख) पर कल्पलता अभिकल्प का चारु चित्रण है । द्वितीय शाख पर विविध भाव-भंगिमाओं, मुद्राओं तथा चेष्टाओं में मिथुन की आकर्षक मूर्तियां हैं । तृतीय शाख अर्धमानुषी रूप में नाग-नागिनों के युगनद्ध बाँध से भरा हुआ है, जो सिरदल पर्यन्त भाग को व्याप्त किया हुआ है । ललाटबिम्ब पर गरुडासीन विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा है । ये अपने हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं । गरुड़ की मूर्ति के अंकन में अप्रतिम शक्ति और शौर्य के भावों की मंजुल अभिव्यक्ति है । बाहर की ओर फैले हुए इनके दोनों हाथों को क्रमशः एक-एक नाग को पकड़े हुए अंकित किया गया है ।[1]

३. गर्भगृह : गर्भगृह की स्थापत्य योजना परम्परानुसार वर्गाकार रूप में है । इसका अन्तः-भाग ३·२ मीटर (१० फुट ६ इंच) लम्बा तथा ३·२ मीटर (१० फुट ६ इंच) चौड़ा एक वर्गाकार वास्तु का स्वरूप प्रकट करता है । इस गर्भगृह को आवेष्ठित करने वाली भित्ति का बाहर की ओर अधिष्ठानमूल पर विस्तार ६.१ मीटर (२० फुट) लम्बे तथा ६.१ मीटर (२० फुट) चौड़े वर्गाकार रूप में है । इस तरह अधिष्ठान-मूल में विमान की भित्ति की मोटाई २·८९ मीटर (९ फुट ६ इंच) की है । इस गर्भगृह में मूल देवता की मूर्ति प्रतिष्ठित है । यह प्रतिमा काले पत्थर की बनी विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति है, जिसके हाथों में क्रमशः शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं ।[2] भगवान राजीवलोचन के नाम से इसी मूर्ति की पूजार्चा होती है ।

४. प्रदक्षिणापथ : छत्तीसगढ़ क्षेत्रान्तर्गत प्रदक्षिणापथ युक्त सान्धार प्रकार के प्राचीन मन्दिरों के बहुत ही कम उदाहरण देखने को मिलते हैं ।

सिरपुर के जिस लक्ष्मण देऊल के वास्तुरूप के अनुकरण पर राजीवलोचन मन्दिर का निर्माण किया जाना ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है, उस मन्दिर में प्रदक्षिणापथ की व्यवस्था थी या नहीं यह वर्तमान में निश्चयपूर्वक कह पाना असम्भव-सा है । अतः ऐसी स्थिति में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर

---

१. चित्र फलक १२

२. चित्र फलक २२, क्रमांक १

राजीवलोचन मन्दिर का यह वास्तुरूप विशेष महत्वपूर्ण हो जाता है तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अपने वर्ग का प्रथम उदाहरण होने का गौरव प्राप्त कर लेता है। जैसा कि हम पूर्व अध्याय में कह आये हैं "राजीवलोचन मन्दिर के प्रदक्षिणापथ के अनुकरण पर ही यहाँ के अन्य मन्दिरों, जैसे रामचन्द्र का मन्दिर, तेलिन मन्दिर तथा जगन्नाथ मन्दिर में प्रदक्षिणापथ का कालान्तर में निर्माण किया गया।"

प्रदक्षिणापथ के लिए गर्भगृह तथा महामण्डप के चारों ओर व्याप्त जगती के शेषभाग को प्रयोग में ले आया गया है। इसे महामण्डप से सन्नद्ध करने के लिए इसकी पार्श्वभित्तियों पर दो प्रवेश द्वार क्रमशः उत्तर तथा दक्षिण की दिशा में बना दिये गये हैं। इन प्रवेशद्वारों को दोनों पार्श्वों में भित्ति-स्तम्भ क्रमांक २ एवं ३ के बीच की जगह को खाली छोड़कर प्रकट किया गया है। जगती के ऊपर किनारे-किनारे से उत्तर-दक्षिण तथा पूर्व दिशा को घेरने वाली भित्ति का निर्माण कर इस प्रदक्षिणापथ को चारों ओर से घेर दिया गया है। परन्तु ऊपर की ओर यह खुला हुआ है। प्रदक्षिणापथ की इस प्रकार की वास्तु-योजना अन्यत्र देखने को नहीं मिलती, परन्तु पल्लव नरेशों के द्वारा बनवाये गये सोरे मन्दिर में प्रदक्षिणापथ के जिस अनुमानित स्वरूप को पर्सी ब्राउन ने सम्भावित माना है, वह इससे मिलता-जुलता है। यदि पर्सीब्राऊन के अनुमान को सम्भव मान लिया जाता है, तो यह स्वीकार करना अनुपयुक्त न होगा कि राजीवलोचन मन्दिर की प्रदक्षिणापथ सम्बन्धी वास्तुयोजना मूलतः उपर्युक्त पल्लव वास्तु से प्रभावित रही है।

आ––उत्सेध विन्यास (ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था)[1]:

गर्भविन्यास अर्थात् भूविन्यास में इस मन्दिर का स्थापत्य रूप जितना स्पष्ट है उतना ही सम्मुख दर्शन अर्थात् उत्सेध विन्यास (ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था) में समय-समय पर किये गये परिवर्तनों तथा बाह्य अंग पर चढ़ाये गये प्लास्तर के मोटे पर्त के कारण मूल स्थापत्य योजना का स्थूलरूप, उसकी अभिरामता में वृद्धि के लिए स्थपतियों तथा शिल्पियों द्वारा प्रयुक्त विविध अलंकरणात्मक प्रयोग आदि अस्पष्ट प्राय हैं। अतः इस सन्दर्भ में वर्तमान में जो स्पष्ट है तथा इस निर्मिति का जो वास्तु आदर्श रहा है उनको आधार मानकर एक सीमा तक सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास मात्र किया जा सकता है। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि यदि इस मन्दिर के विमान के किसी एक दिशा में उपल्ली सतह से वर्तमान प्लास्तर के मोटे पर्त को हटा दिया जाये तो इसके मूल स्थापत्य स्वरूप के सम्बन्ध में यथेष्ट सीमा तक सही मूल्यांकन प्रस्तुत कर सकने की सम्भावना सहजभावेण स्वीकार की जा सकती है।

उत्सेध विन्यास (ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था) में इस मन्दिर के वास्तु वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिए विमान की वास्तु-संस्थापन योजना का विस्तृत वर्णन करना अभीष्ट माना जा सकता है।

---

१. चित्र फलक १३

ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था में विमान–अधिष्ठान, जंघा, शिखर और मस्तक, इन चार उपांगों में विभक्त है।

१. अधिष्ठान : इस मन्दिर का अधिष्ठान त्रिरथ गर्भन्यास पर बनाया गया है तथा उसी अनुक्रम में इसकी उपल्ली सतह में प्रवहमयता स्थापित की गयी है।

फलतः उत्सेध में यह त्र्यंग वाड वाला है। इसके बाह्य स्वरूप अर्थात् मुहार में रूप-वैविध्य लाने के लिए ईंटों को इस क्रम से प्रस्थापित किया गया है कि इसका बाह्य कलेवर अलग-अलग प्रकार के उपपीठगढ़त (मोल्डिंग्स) से भर गया है। इस अंग पर कहीं-कहीं से प्लास्तर के उखड़ जाने से कुछ पत्र-पल्लव अलंकरण स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। इससे यह कहा जा सकता है कि इस उपपीठगढ़त पर पत्र-पल्लव अभिप्रायों का अलंकरणात्मक प्रयोग रहा है। गर्भन्यास से अधिष्ठान की ऊँचाई १·२१ मीटर (४ फुट) के बराबर है।

२. जंघा : स्थूल रूप से जंघे को तीन उप अंगों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) जंघे का अधो भाग : उठान में अधिष्ठान द्वारा स्थापित उत्सेध के मान पर यथावत क्रम में संस्थापित किये जाने से त्र्यंग वाड की प्रवहमयता में कोई अन्तर नहीं आने पाया है। परन्तु अधोभाग को इस रूप में गढ़ा गया है कि उसे देखने पर निधिकलश अभिकल्प की अभिव्यक्ति स्पष्ट भासित होती है। वास्तु-संस्थापन में अभिव्यक्ति का यह रूप यहाँ पर निस्संदेह सिरपुर के लक्ष्मण देऊल के अनुकरण का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

(ख) छद्म स्तम्भों अथवा भित्तिस्तम्भों की अभिव्यक्ति द्वारा अलंकृत मध्य भाग : जंघे का मध्य भाग पूर्ण घट अभिकल्प से मण्डित शीर्ष छद्म-स्तम्भों अथवा भित्तिस्तम्भों (कुड्य स्तम्भों) की पंक्ति से आबद्ध है। इस प्रकार छद्म स्तम्भों अथवा भित्तिस्तम्भों की संख्या प्रत्येक मुहार में छः है। इन छः छद्मस्तम्भों अथवा भित्तिस्तम्भों को वाड की संख्या के अनुपात में बराबर-बराबर बाँट दिया गया है। इस तरह ये तीन अलग-अलग जोड़ों में स्पष्टतः विभाजित दृष्टिगोचर होते हैं। प्रत्येक जोड़े के दोनों छद्म स्तम्भों को एक उष्णीश के द्वारा जोड़ दिया गया है। इस उष्णीश पर अनुकूल अनुपात में चैत्यगवाक्ष अभिकल्प का अलंकरणात्मक अंकन है, जिसके ऊपर मेखला की उभरी हुई एकहरी पट्टी है। इस मेखला के ऊपर विमान का उच्चतम अंग-शिखर अवस्थित है।

जंघे के मध्य भाग पर छद्म स्तम्भों अथवा कुड्य-स्तम्भों का संस्थापन, उन पर मण्डित उष्णीश, इसके ऊपर चैत्य गवाक्षों की अभिराम अभिव्यक्ति, आदि सब मिला कर वास्तु के इस अंग को दिलहे (ताख या रथिका-बिम्ब) का स्वरूप प्रदान करते जान पड़ते हैं। गुप्तकालीन प्रसिद्ध दशावतार मन्दिर के विमान के बाहरी मुहार पर मध्य में बने रथिकाबिम्बों पर विभिन्न देवताओं की प्रतिमाएँ प्रस्थापित हैं, जबकि सिरपुर के लक्ष्मण देऊल में दिलहे के स्थान पर छद्म खिड़की का अत्यन्त ही अलंकृत पटों से युक्त अंग के साथ अंकन किया गया है। यह वास्तुरूप तीनों दिशाओं के मुहारों

पर मध्य में अंकित किया गया है। राजीवलोचन मन्दिर के इस वास्तुरूप का मूल-स्वरूप दशावतार मन्दिर की परम्परा में रहा है, अथवा सिरपुर के लक्ष्मण देऊल की परम्परा में यह निश्चितरूप से कह पाना असम्भव है। परन्तु असम्भव की यह स्थिति वर्तमान प्लास्तर के पर्त को हटा देने से सम्भवतः समाप्त हो सकती है। इस उदाहरण में भी उपरोक्त दोनों उदाहरणों की भाँति दिलहे अथवा रथिकाबिम्ब को जंघे के तीनों मुहारों पर मध्य भाग में प्रस्तुत किया गया है।

३. **शिखर :** ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था में राजीवलोचन मन्दिर का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण अंग उसके विमान का शिखर है। इस शिखर की वास्तुयोजना सिरपुर की शिखर शैली से भिन्न प्रकार की है। इस तरह शिखर की संस्थापन-प्रक्रिया में राजीवलोचन मन्दिर का निर्माण करने वाला स्थपति अपनी मूल प्रेरणाभूमि से हटकर अन्य शैली के प्रभाव में अपने को विलीन कर लेता है। सिरपुर के लक्ष्मण-देऊल का शिखर जहाँ उत्तर-भारतीय नागरशैली की शिखर योजना पर निर्मित है, वहाँ राजीवलोचन मन्दिर का शिखर दक्षिण भारतीय द्रविड़ शैली के शिखर का मूर्तिमन्त रूप है।

अधिष्ठान तथा जंघे की पूरी ऊँचाई को व्याप्त करने वाले त्र्यंग वाड तरंग को शिखर के मुहान पर भी हम उसी गम्भीरता के साथ प्रवाहित पाते हैं। परन्तु जैसे-जैसे शिखर के उपल्ली संस्थापन में संकुचन आता गया है वैसे-वैसे वाड़ तरंग में भी उत्तरोत्तर संकुचन होता गया है।

सम्मुख दर्शन में सम्पूर्ण शिखर पिरामिडीय (शुण्डाकार) आकार का है, तथा यह पाँच भूमियों में विभक्त है। प्रत्येक भूमि का संस्थापन वर्गाकार रूप में है। शिखर की उपल्ली सतह पर प्रत्येक दिशा में दोनों अन्तिम छोरों के ऊर्ध्वगामी वाडों पर ताख की आकृति प्रत्येक भूमि पर बनायी गयी है। इस ताख आकृति के शीर्ष रूप में लहरीय शिखर बनाये गये हैं। इन लहरीय शिखरों को कालान्तर में उत्तरभारतीय मन्दिर वास्तु में स्वीकृत उरु-शृंग अभिकल्प का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। त्र्यंग वाड की प्रत्येक भूमि पर चैत्य गवाक्षों की अत्यन्त ही अलंकरणात्मक अभिव्यक्ति है। इस तरह लघु शिखर तथा डाट (चैत्य गवाक्ष) के उभय अभिप्रायों से अलंकृत यह शिखर अपने बाह्य अलंकरण में उत्तर भारतीय नागर शैली तथा दक्षिण भारतीय द्रविड़ शैली का मनोहारी समन्वय उपस्थित करता है। सम्मुख दर्शन में इस शिखर के वास्तुसंस्थापन का रूप-बोध गया के मन्दिर की शिखर-शैली से मिलता जुलता है। परन्तु बोध गया के मन्दिर के शिखर की ऊँचाई का उसके अधिष्ठान तथा जंघे की सम्मिलित ऊँचाई की तुलना में जो अनुपात है, उसका इस उदाहरण में अभाव है। राजीवलोचन मन्दिर का शिखर बोध गया मन्दिर के शिखर की तुलना में ठिगनापन लिया हुआ है तथा इसका यह अनुपातिक स्वरूप दक्षिण भारत के प्रारम्भिक मन्दिरों के शिखर के अनुपातिक परिमाण का अनुगमन करता प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में मामल्लपुर के सोरे मन्दिर तथा कांचीवरम् के कैलाशनाथ मन्दिर के शिखरों के पारिमाणिक अनुपात को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

४. **मस्तक :** शिखर के ही समान मस्तक भी इस मन्दिर का उल्लेखनीय अंग

है, तथा दक्षिण कोशल के वास्तुकला के इतिहास में मन्दिर वास्तु के इस अंग विशेष का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इस उदाहरण में हमें सर्वथा अभिनव शैली के मस्तक का स्वरूप प्राप्त होता है।

मस्तक अधोलिखित भागों में विभक्त है—

(क) **बेंकी**—शिखर और मस्तक को जोड़ने वाला अंग है तथा यह वृत्ताकार रूप में है।

(ख) **आमलक**—बेकी के ऊपर स्थापित किया गया काँटेदार विशाल आमलक मिला है, जिसके उपल्ली सतह को बीचोंबीच से एक उभरी एकहरी, चपटी पट्टी के द्वारा दो भागों में विभक्त कर दिया गया है।

(ग) **घंटाकृति (बेलशेप्ड)**—यह इस वास्तुरूप का विशेष उल्लेखनीय अंग है तथा सामान्यतः छत्तीसगढ़ क्षेत्र से प्राप्त प्राचीन मन्दिरों में दिखाई नहीं देता। निर्माण-शैली तथा सम्मुखदर्शन में यह उड़ीसा के मध्ययुगीन मन्दिरों के पीढ़ा-देऊल के मस्तक की घंटाकृति के अनुकरण पर बनाया गया वास्तु-अंग प्रतीत होता है। घंटाकृति का प्राचीनतम निर्देशन भुवनेश्वर के सातवीं शताब्दी के बने मन्दिर में देखने को मिलता है। लगभग यही समय राजीवलोचन मन्दिर के निर्माण का भी है। अतः इस समय साम्य को आधार मान कर यह कहा जा सकता है कि या तो दोनों स्थानों में घंटाकृतियुक्त मस्तक निर्माण का कार्य साथ-साथ प्रारम्भ हुआ और इनमें से किसी एक का दूसरे की स्थापत्य योजना पर कोई प्रभाव नहीं रहा; अथवा यह माना जा सकता है कि इनमें से जहाँ इस शैली का प्रथम प्रयोग हुआ, उसने दूसरे को प्रभावित किया। इसमें संशय नहीं कि इन दोनों स्थानों के मध्य निकट का सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। अतः एक स्थान की उल्लेखनीय उपलब्धि का दूसरे स्थान तक पहुँचने में विशेष समय नहीं लगा होगा। परन्तु यह निश्चित कर पाना असम्भव है कि इन दोनों कला केन्द्रों में से कहाँ पहली बार घंटाकृतियुक्त मस्तक का रूपायण किया गया। इस सन्दर्भ में जगन्नाथ मन्दिर के निर्माण के सम्बन्ध में पुराणों में दिया गया विवरण उल्लेखनीय माना जा सकता है। ब्रह्मपुराण में दिये गये विवरण से ज्ञात होता है कि राजा इन्द्रद्युम्न ने जगन्नाथ मन्दिर के निर्माण कार्य में अन्य देशों के स्थपतियों के साथ-साथ कोशल (दक्षिण कोशल) के स्थपतियों को भी नियोजित किया था। इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि उड़ीसा के प्रसिद्ध मन्दिर वास्तु-रूपों की संरचना तथा कला-संकलपना में दक्षिण कोशल के स्थपतियों का प्रत्यक्ष सहयोग रहा है। अतः ऐसी स्थिति में यह अनुमान करना असंगत नहीं माना जायेगा कि मन्दिर-शिखर के ऊपर मस्तक के घंटाकृति सम्बन्धी रूप-विधान के प्रतिष्ठाता दक्षिण कोशल के वे स्थपति हो सकते हैं, जिन्होंने राजीवलोचन मन्दिर का निर्माण किया था। इस तरह मस्तक की यह घंटाकृति यहाँ के स्थपतियों की अपनी देन है। यह एक ऐसा तथ्य है जिससे यह प्रमाणित किया जा सकता है कि राजीवलोचन मन्दिर के निर्माण में जहाँ एक ओर उत्तर भारतीय नागर प्रकार की शैली का प्रभाव रहा है, वहीं दूसरी ओर इसके वास्तु-संस्थापन में दक्षिणभारतीय द्रविड़ शैली की विशेष-

ताएँ भी प्रभावशील रही हैं, साथ ही इसमें ग्रांचलिक मौलिक उपलब्धियों का भी सम्यक् रूपायण हुग्रा है।

(घ) **लघुग्रामलक बेकी**—घंटाकृति के ऊपर लघुग्रामलक बेकी है जो लघु-ग्रामलक शिला के ग्राधार-पीठ के रूप में है।

(ङ) **लघुग्रामलक**—यह मस्तक के ग्रंग के शीर्षस्थ लिए ग्राधार रूप में प्रयुक्त हुग्रा है।

(च) **पूर्णकलश एवं ग्रायुध**—मस्तक का उच्चतम भाग पूर्णघट तथा उस पर स्थापित ग्रायुध से मंडित है।

ग्रनुषांगिक देवलिकाएँ :

राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के चारों कोनों पर एक-एक देवलिकाएँ बनी हुई हैं। इन देवलिकाग्रों में एक स्वतन्त्र मन्दिर के ग्रनिवार्य ग्रंगों का ग्रभाव है। वस्तुतः ये गर्भगृह युक्त विमान मात्र हैं। इस वास्तुरूप में उनका प्राकार के मध्य में बने राजीव लोचन मन्दिर से सम्बद्धता सहज ही ग्रनुमानित है। इन मन्दिरों का निर्माण केन्द्रस्थ मन्दिर के सहायक ग्रंग के रूप में किया गया था—यह तथ्य इन मन्दिरों के गर्भगृह में प्रतिष्ठित देव प्रतिमाग्रों के परस्पर ग्रन्योन्याश्रित सम्बन्धों पर विचार करने से स्वतः प्रमाणित हो जाता है। राजीवलोचन मन्दिर भगवान विष्णु को समर्पित है, जबकि इन चारों देवलिकाग्रों में भगवान विष्णु के चार विशिष्ट ग्रवतारों से सम्बन्धित प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। इससे इन देवलिकाग्रों का केन्द्रस्थ मन्दिर के ग्रनुषांगिकरूप में निर्माण किये जाने सम्बन्धी मूल भावना का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। भारतीय शिल्पशास्त्रों में इस प्रकार के वास्तु को जिसमें केन्द्र में मूल देवता से सम्बन्धित मन्दिर होता था तथा उसके चारों कोनों पर उस मूल देवता के सहायक ग्रन्य चार देवताग्रों के मन्दिर बने होते थे, पंचायतन प्रकार का मन्दिर वास्तु कहा गया है। इस ग्राधार पर राजीव लोचन मन्दिर को भी पंचायतन प्रकार का मन्दिर स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार के मन्दिरों के जो प्राचीन उदाहरण प्राप्त हैं उनमें हम ग्रनुषांगिक मन्दिरों को केन्द्रस्थ मन्दिर की ही जगती पर चारों कोनों पर बना हुग्रा पाते हैं। इस सन्दर्भ में राजीवलोचन मन्दिर के लग-भग समयुगीन कहे जा सकने वाले देवगढ़ के दशावतार मन्दिर को तथा माम्मलपुरम के सोरे मन्दिर को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं तथा परवर्तीकालीन उदा-हरणों में खजुराहो के लक्ष्मणेश्वर मन्दिर का नामोल्लेख किया जा सकता है। परन्तु इस उदाहरण में हम ग्रनुषांगिक मन्दिरों को केन्द्रस्थ मन्दिर की जगती पर बना हुग्रा नहीं पाते, ग्रपितु इन्हें प्राकार के चारों कोनों पर बना हुग्रा देखते हैं। इस परिवर्तन का लेखक की दृष्टि में सम्भावित कारण इस उदाहरण का शैलोत्खनित मन्दिर वास्तु के रूप-दर्शन से प्रभावित होता है, ग्रथवा ये ग्रनुषांगिक देवलिकाएँ बाद की निर्मितियाँ हैं। वर्तमान रूप को देखने पर दूसरा कारण ग्रधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है।

इन अनुषांगिक देवलिकाओं की स्थापत्य-योजना का अलग-अलग वर्णन करना उचित होगा।

१. **बद्रीनारायण मन्दिर :** यह मन्दिर प्राकार के उत्तरी-पूर्वी कोने पर बना हुआ है। स्थापत्य-योजना की दृष्टि से यह गर्भगृहयुक्त विमान-वास्तु का उदाहरण है। यह पश्चिमाभिमुख है तथा प्राकार के धरातल से ४५.७२० से. मी. (१ फुट ६ इंच) ऊँची जगती पर बनाया गया है। गर्भगृह में प्रवेश के लिए दो सीढ़ियों वाला एक सोपान मार्ग है। गर्भन्यास में यह पंचरथ प्रकार के वास्तु का उदाहरण है। इस पंचरथ गर्भन्यास पर निर्मित विमान भित्ति अधिष्ठान से शिखर की सम्पूर्ण ऊँचाई पर्यन्त पंचांग बाड वाला है। अधिष्ठान की उपल्ली सतह उपपीठगढ़त की परम्परा में है। अधिष्ठान के ऊपर जंघे के अधोभाग को राजीवलोचन मन्दिर की भाँति कुम्भाकृति में गढ़ा गया है। स्थूल दृष्टि से देखने पर जंघा दो तलों में विभक्त है। प्रत्येक बाड पर पूर्णघट-माण्डित शीर्षयुक्त दो-दो छद्म स्तम्भों अथवा भित्ति-स्तम्भों की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक बाड के दोनों स्तम्भों को एक उष्णीश द्वारा परस्पर सम्बद्ध कर दिया गया है, तथा इस उष्णीश को राजीवलोचन मन्दिर के शिखर के पार्श्व बाडों पर अभिव्यक्त लहरियादार डाट के अभिप्राय से मण्डित कर दिया गया है। इस तरह प्रत्येक बाड पर एक-एक दिलहे बना दिये गये हैं। जंघे के दोनों तलों पर छद्मस्तम्भों अथवा भित्ति-स्तम्भों की समान अभिव्यक्ति पायी जाती है तथा दोनों तलों पर बाड एक-एक दिलहे से युक्त है।

शिखर सम्मुखदर्शन में राजीवलोचन मन्दिर के शिखर से प्रभावित प्रतीत होता है। इसका पिरामिडीय आकार तथा उत्सेध में अनेक भूमियों में विभाजन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शिखर की प्रत्येक भूमि उरुश्रृंग की प्रारम्भिक कही जा सकने वाली अभिव्यक्ति से अलंकृत है। मस्तक राजीवलोचन मन्दिर के अनुकरण पर है।

पश्चिमाभिमुख प्रवेशद्वार की शिल्प शोभा अनुपम है। प्रवेशद्वार के दोनों पार्श्व पाख (शाख) निधिकलश से प्रवहमान पत्रलता अभिकल्प के एक सूत्रतरंग से भरा हुआ है। पाख से प्रारम्भ होने वाला यह पत्रलत्ता-तरंगमाल सिरदल को भी व्याप्त कर लेता है। सिरदल के मध्य में परस्पर एक दूसरे की ओर अभिमुख दो मकर मुख बने हुए हैं।

प्रवेशद्वार के दोनों पार्श्वों की अन्तः भित्ति अठफुलिया पुष्प अभिप्राय द्वारा तीन भागों में विभक्त कर दी गयी है तथा प्रत्येक भाग पर शिव से सम्बन्धित मूर्तियाँ अधिउच्च शैली में उकेरी गयी है। बाँयी ओर की अन्तः भित्ति पर क्रमशः अर्धनारीश्वर, शिव-ताण्डवनृत्य मुद्रा में, तथा शिव-योगेश्वर रूप में रूपायित किये गये हैं। इसी तरह दाहिने अन्तः भित्ति पर शिव (लकुलीश रूप में), गजासुर हन्ता के रूप में शिव, तथा त्रिमूर्ति (मध्य में शिव तथा दोनों पार्श्वों में क्रमशः ब्रह्मा और विष्णु) रूप में रूपायित किये गए हैं।

गर्भगृह में तपस्यारत नारायण की प्रतिमा है। मूर्तिकला तथा दैवविज्ञान की

दृष्टि से यह प्रतिमा अत्यन्त मूल्यवान है। इस वर्ग की बहुत ही कम प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं और जो प्राप्त हैं उनमें भावाभिव्यंजना का वह उदात्तरूप प्रायः नहीं मिलता जो इसमें प्राप्य है।

(२) **वामन मन्दिर**—यह मन्दिर प्राकार के दक्षिणी पूर्वी कोने पर बना हुआ है। यह भी पूर्व उदाहरण की भाँति पंचरथ युक्त पंचांग बाड वाला पश्चिमाभिमुख मन्दिर है। अधिष्ठान उपपीठगढ़त वाला है तथा जंघा पूर्व उदाहरण से भिन्न मध्य से प्रवाहित एक उभरी पट्टी से तल जंघा एवं अपर जंघा में विभक्त है, जैसा कि मध्यकालीन उड़ीसा के देवालयों में देखने को मिलता है। इस मन्दिर के शिखर का निर्माण भी भिन्न शैली में है। वर्तमान मोटे प्लास्तर के कारण इसके वास्तविक रूप-मण्डल का वर्णन कर पाना असम्भव है। मस्तक पूर्व उदाहरण की ही भाँति राजीवलोचन मन्दिर के मस्तक के अनुकरण पर बनाया गया है। प्रवेश-द्वार सादा है, परन्तु इसके सिरदल के रूप में अन्यत्र से लाकर अनन्तशायी रूप में भगवान विष्णु की प्रतिमा से युक्त एक पाख बैठा दिया गया है। बद्रीनाथ मन्दिर की ही भाँति इस देवलिका के प्रवेश-द्वार की अन्तः भित्ति पर छन्द परम्परा में, तथा अध्युच्चित्र शैली में मूर्तियाँ उकेरी गयी हैं। परन्तु जहाँ बद्रीनाथ मन्दिर के प्रवेश-द्वार की अन्तः भित्ति पर शिव की विविध लीला रूपों में मूर्तियाँ उत्खचित हैं, वहाँ रस उदाहरण में विष्णु के दशावतारों का अंकन है। दायीं ओर वाली अन्तः भित्ति पाँच भागों में विभक्त है। सबसे निचले भाग पर मत्स्यावतार का रूपांकन है। शेष भागों पर क्रमशः कूर्म, वराह, नृसिंह तथा वामनावतार का रूपायण है। प्रवेश द्वार की दायीं भित्ति के ही समान वाम भित्ति भी पाँच भागों में विभक्त की गयी है, तथा सबसे ऊपर परशुराम (राम भार्गव) की मूर्ति है। इसके नीचे क्रमशः राम (दाशरथी) लक्ष्मण, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि अवतारों का निर्देशन है। गर्भगृह पूर्व उदाहरणों की ही भाँति वर्गाकार है तथा इसमें बटुक रूप में विष्णु को संकल्प देते हुए राजा बलि की प्रतिमा स्थापित है। विष्णु के वामनावतार की कथा पर आधारित इस मूर्ति की कलात्मकता तथा इसमें निर्देशित भाव आकर्षक एवम् प्रभावशाली हैं।

(३) **वाराह मन्दिर**—राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के दक्षिणी कोने पर बना यह पञ्चरथ और पञ्चाग बाड युक्त मन्दिर है, जो अपने प्रयोजन विशेष के अनुरूप पूर्वाभिमुख है। स्थापत्य-रूप में यह वामन मन्दिर की स्थापत्य योजना के अनुकरण पर बनाया गया है। अधिष्ठान पूर्व उदाहरणों की भाँति उपपीठगढ़त में है। जंघा—तल जंघा और अपर जंघा में विभक्त है। शिखर नागर प्रकार का है परन्तु मस्तक की संरचना में राजीवलोचन मन्दिर के मस्तक को प्रेरणा रूप में स्वीकार किया गया है। प्रवेश-द्वार के पाख कल्पलता अभिकल्प के अलंकरणात्मक अभिप्रायों से भरा हुआ है तथा इसकी अन्तः भित्ति पर भी पत्र-पल्लव अलंकरण का उत्खचन है। गर्भगृह में नृवाराह की भव्य प्रतिमा प्रस्थापित है।

(४) **नृसिंह मन्दिर**—यह मन्दिर राजीवलोचन मन्दिर के उत्तरी-पश्चिमी कोने पर बना हुआ है तथा वाराह मन्दिर की ही तरह पञ्चरथ और पञ्चांग बाड युक्त

पूर्वाभिमुख देवालय है। इसका भी अधिष्ठान पूर्व उदाहरणों की भाँति उपपीठगढ़त में हैं। जंघा दो तलों में विभक्त है—(१) तल जंघा, (२) अपर जंघा। शिखर नागर प्रकार का है, एवम् रूप-विधान में मध्यकालीन शिखरों से मिलता-जुलता है। प्रवेश-द्वार पूर्व की ओर है। यह सादा है। गर्भगृह का अन्तः विन्यास वर्गाकार है। यह मन्दिर विष्णु के नृसिंह अवतार रूप को समर्पित है।

अनुषांगिक देवलिकाओं का जैसा वर्णन हमने ऊपर किया है, उससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इनका निर्माण यद्यपि केन्द्रस्थ राजीवलोचन मन्दिर के सहायक देवालयों के रूप में किया गया है, पर इनमें से किसी भी एक निर्मिति को राजीव-लोचन मन्दिर का समकालीन सिद्ध कर पाना असम्भव है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन लघु देवलिकाओं का निर्माण प्रयोजन विशेष की पूर्ति के निमित्त कालान्तर में किया गया है। इनका निर्माण रतनपुर के कलचुरी शासकों के राजस्वकाल में किया जाना सम्भावित प्रतीत होता है, जैसा कि इन देवलिकाओं के वर्तमान वास्तु-रूपों का सम्यक अध्ययन सूचित करता है। यहाँ यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि डॉ० दीक्षित ने इन देवलिकाओं के निर्माण का श्रेय पाण्डववंशी (सोमवंशी) शासकों को दिया है।[1] परन्तु उनकी यह धारणा अनुमान मात्र है। वस्तुतः कालान्तर की निर्मिति होने के कारण ही पञ्चायतन वास्तु के अंग होते हुए भी इनका निर्माण केन्द्रस्थ मन्दिर की जगती पर किया जाना सम्भव नहीं रहा होगा।

राजेश्वर मन्दिर[2]—राजीवलोचन मन्दिर के पश्चिम में प्राकार से बाहर तथा द्वार प्रकोष्ठ से लगभग ५.४९ मीटर (१८ फुट) हटकर पूर्वाभिमुख अवस्था में यह मन्दिर स्थित है। इसके वर्तमान प्रचलित नाम के मूल में निहित ऐतिहासिक तथ्यों को स्पष्ट कर पाना नितान्त असम्भव है।

यह मन्दिर यहाँ से प्राप्त अन्य उदाहरणों की ही भाँति ·८१ मीटर (२ फुट ८ इंच) ऊँची एक जगती पर बना हुआ है।

इस मन्दिर के वास्तु-रूप पर विचार करने से ज्ञात होता है कि राजीवलोचन मन्दिर की वास्तु योजना को आधार मानकर इसका निर्माण किया गया है।

भूविन्यास योजना अर्थात् गर्भसूत्रीय व्यवस्था में इसके तीन प्रमुख स्थापत्य अंग हैं—(१) महामण्डप, (२) अन्तराल एवम् (३) गर्भगृह।[3]

इसका महामण्डप राजीवलोचन के अनुकरण पर बनाया गया ७.०१ × ५.४९ मीटर (२३ फुट × १८ फुट) का आयताकार वास्तु है। यह उत्तर तथा दक्षिण की ओर पार्श्वभित्तियों से बन्द है, परन्तु पूर्व की ओर पूरा खुला हुआ है।

यह महामण्डप एक सपाट छत से आवृत है। इस छत को सहारा देने के लिए महामण्डप में मध्यवर्ती स्तम्भों की दो कतारें तथा इनके तीनों पार्श्वों में पार्श्वभित्तियों

---

१. हेरीटेज ऑफ इण्डियन आर्ट सिरीज भाग १, पृष्ठ २९

२. चित्र फलक १४, क्रमांक १

३. चित्र फलक १४, क्रमांक २

से सन्नद्ध भित्ति-स्तम्भों की एक-एक पंक्ति है। प्रत्येक पंक्ति में स्तम्भों तथा भित्ति-स्तम्भों की संख्या चार-चार है।

इस मन्दिर के स्तम्भ राजीवलोचन मन्दिर के स्तम्भों के भिन्न शैली के हैं। इनमें निधिकलशमय अधोभाग तथा पूर्णघटमण्डित शीर्षभाग का अभाव है, जो कि राजीवलोचन मन्दिर के स्तम्भों की सामान्य विशेषता है। सम्मुख दर्शन में दृष्टव्य भेद के आधार पर इन स्तम्भों को तीन विशिष्ट वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे स्तम्भ आते हैं जिनके थम्भ भाग को क्रमशः चतुरस्र, अष्टास्र, वृत्त, अष्टास्र, तथा अन्त में पुनः चतुरस्र में विभक्त किया गया है। इसके ऊपर शीर्ष का उच्चतम अंग आता है, जिसे आमलक शिला की भाँति गोल दाँतेदार रूप में गढ़ा गया है। इसके ऊपर कपोतपाली है। इस स्तम्भ के वृत्त भाग को पुष्प पल्लव के अलंकरण से अलंकृत किया गया है। दूसरे वर्ग के स्तम्भों को क्रमशः चतुरस्र, अष्टास्र तथा पुनः चतुरस्र क्रम में गढ़ा गया है। इसका भी शीर्ष प्रथम वर्ग के स्तम्भों के समान ही है। अष्टास्र भाग पर दोहरी लपेट का अलंकरण है।[1] तीसरे वर्ग के स्तम्भ षोडसास्र और अष्टास्र के छः अवान्तर क्रम में विभक्त हैं। इस वर्ग के स्तम्भों की शीर्ष योजना पूर्वोल्लिखित दो वर्गों से भिन्न है। यहाँ पर हमें शीर्ष में घंटाकृत अलंकरण प्राप्त होता है।[2]

केवल तीन भित्ति-स्तम्भ ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे मूलतः राजीवलोचन मन्दिर के भित्ति-स्तम्भों की शैली के रहे होंगे। शेष भित्ति-स्तम्भ सादे हैं।

महामण्डप से सन्नद्ध अन्तराल है जों कि २.०३ मीटर (६ फुट ८ इंच) के परिमाण में लम्बा चौड़ा वास्तु अंग है।

अन्तराल से लगा हुआ मन्दिर का वर्गाकार गर्भगृह है। इसकी एक भुजा ३.०४ मीटर (१० फुट) के परिमाण में है। इस गर्भगृह में शिव का लिंगम् रूप में संस्थापन है।

द्वार-शाखा विविध फुल्लावली अभिप्रायों से अलंकृत है। इस द्वार-शाखा को देखने मात्र से ही यह भासित होता है कि इसे यथेष्ट बाद में द्वार पर जड़ा गया है। अतएव इसे मूल स्थापत्य का अंग नहीं माना जा सकता।

उत्सेध विन्यास अथवा ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था में मन्दिर के गर्भगृह को चतुर्दिक घेरे हुए विमान का वास्तुसंस्थापन ही प्रमुख अंग है। इस विमान के संस्थापन में राजीवलोचन का न केवल अनुकरण है, अपितु इसके प्रत्येक अंग के रूप-मण्डन में भी समरूपता स्थापित करने का सफल प्रयास है। पूर्व उदाहरण की भाँति ही यह भी त्रिरथ गर्भन्यास पर बनाया गया त्र्यंग बाड युक्त वास्तु है। ये बाड अधिष्ठान से प्रारम्भ कर शिखर पर्यन्त समस्त ऊँचाई को व्याप्त करने वाले हैं। अधिष्ठान उप-

---

१. चित्र फलक ८, क्रमांक १

२. चित्र फलक ८, क्रमांक ३

पीठगढ़त से युक्त है। जंघे का अधोभाग कुम्भाकृति में है तथा मध्य भाग प्रत्येक बाड पर क्रमश: दो-दो छद्म स्तम्भों अथवा भित्ति स्तम्भों की उभार में प्रकट की गयी आकृतियों से भरा हुआ है। जंघे के मध्य बाड पर के दोनों छद्म स्तम्भों अथवा भित्तिस्तम्भों के शीर्ष को एक उष्णीश शिला से जोड़ा गया है। इस पर चैत्य गवाक्ष अलंकरण उभार में बनाया गया है। इस तरह इसे राजीवलोचन मन्दिर के अनुकरण पर दिलहे का रूप दे दिया गया है। शिखर के रूप-मण्डन में राजेश्वर मन्दिर के निर्माता स्थपति ने राजीवलोचन मन्दिर की शिखर शैली का सर्वांगरूप में प्रतिच्छाया प्रस्तुत किया है। अतः इसके बारे में और कुछ लिखना उचित नहीं होगा।

इस मन्दिर की निर्माण-तिथि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसके निर्माण में राजीवलोचन मन्दिर के स्थापत्य रूप का जिस प्रकार से अनुकरण किया गया है, उसे देखते हुए इसका निर्माण का समय ८वीं-९वीं शती में स्थिर किया जा सकता है। इस तथ्य की पुष्टि स्तम्भों को देखने से भी हो जाती है। परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि इस मन्दिर में समय-समय पर मरम्मत आदि के कार्य होते रहे हैं, जिसके फलस्वरूप मूलवास्तु का मौलिक रूप कई स्थलों पर लुप्त-सा हो गया है। द्वार-शाख यथेष्ट बाद का है।

दानेश्वर मन्दिर[1]—राजेश्वर मन्दिर से दक्षिण में उससे लगभग सटकर दानेश्वर मन्दिर बना हुआ है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि यद्यपि इस मन्दिर के निर्माण में भी राजीवलोचन मन्दिर द्वारा प्रस्थापित वास्तु-योजना के अनुसार ही निर्मिति को रूपायित करने का प्रयास किया गया है, परन्तु इसके समष्टिगत रूपविधान में यत्किंचित अन्तर भी स्वीकृत है। इन अन्तरों को आधार मानकर हेनरी कज़िन ने इसे उपर्युक्त मन्दिरों की तुलना में बहुत बाद की निर्मित माना है। परन्तु कज़िन की इस मान्यता को पुष्ट करने वाले प्रमाणों का अभाव है। इसमें संदेह नहीं कि राजिम के अन्य मन्दिरों की ही भाँति इस देवालय में भी समय-समय पर मरम्मत आदि के कार्य होते रहे हैं, फलतः इसका मौलिक स्वरूप कई स्थानों पर एकदम बदल-सा गया है। इस स्थिति के बाद भी इसे अपेक्षाकृत आधुनिक मानना समीचीन नहीं होगा।

पूर्वोक्त उदाहरणों की ही भाँति यह भी एक जगती पर बनाया गया है। जगती की वर्तमान ऊँचाई ·८१ मीटर (२ फुट ८ इंच) है। यह मन्दिर राजेश्वर मन्दिर की तरह पूर्वाभिमुख है।

भूविन्यास अथवा गर्भसूत्रीय व्यवस्था में इस मन्दिर के चार अंग है—(१) नन्दि मण्डप, (२) महामण्डप, (३) अन्तराल एवं (४) गर्भगृह।[2]

नन्दि मण्डप की योजना दानेश्वर मन्दिर की अपनी विशेषता है। राजिम से प्राप्त किसी भी शैव मन्दिर में हमें नन्दि-मण्डप नहीं मिलता। इसका निर्माण महा-

---

१. चित्र फलक १५, क्रमांक १

२. चित्र फलक १५, क्रमांक २

मण्डप के मध्यवर्ती स्तम्भों के दोनों कतारों की सीध में महामण्डप के आगे पूर्व दिशा की ओर एक-एक अतिरिक्त स्तम्भों के संस्थापन द्वारा तथा महामण्डप को आवृत करने वाले सपाट छत को इन दो अतिरिक्त स्तम्भों पर आधारित धरणी के सहारे आगे को विस्तृत कर पूरा किया गया है ।

इस मन्दिर का महामण्डप राजिम के अन्य मन्दिरों के महामण्डप से भिन्न प्रकार का है। यह अन्य उदाहरणों की भाँति दोनों पार्श्वों से बन्द न होकर आधा खुला हुआ है। परन्तु इसका स्वरूप अन्य उदाहरणों की ही तरह आयताकार है तथा इसका विस्तार ७·६२×७·०१ मीटर (२५ फुट×२३ फुट) के परिमाण में है। राजिम के अन्य मन्दिरों की ही तरह यह भी सपाट छत से युक्त है। इस छत को सहारा देने के लिए महामण्डप में स्तम्भों की चार पंक्तियाँ स्थापित की गयी हैं। प्रत्येक पंक्ति में चार-चार स्तम्भ हैं। मध्य के दोनों पंक्तियों के स्तम्भों की तुलना में दोनों अन्तिम छोर वाली पंक्तियों के स्तम्भ लगभग आधी ऊँचाई वाले हैं। महामण्डप के उत्तर तथा दक्षिण में आधी ऊँचाई तक भित्ति खड़ी कर दी गयी है। इस भित्ति के ऊपरी भाग को कक्षासन के रूप में प्रयोग कर उन पर छोटे स्तम्भों को स्थापित किया गया है। इस प्रकार की वास्तुयोजना का अन्य उदाहरण हमें रायपुर जिले के बलौदा-बाजार तहसील के नारायणपुर के कलचुरि कालीन मन्दिर में तथा दुर्ग जिले के देवबलौदा नामक स्थान के कलचुरियुगीन मन्दिर में देखने को मिलता है। अतः इस मन्दिर को भी इनका समकालीन स्वीकार करना अतर्कपूर्ण न होगा।

इस मन्दिर के स्तम्भ भिन्न शैली में हैं तथा इनमें से कुछ राजेश्वर मन्दिर के स्तम्भ से मिलते-जुलते हैं।

अन्तराल भी पूर्व उदाहरणों की भाँति वर्गाकार है। इस अन्तराल से लगा हुआ गर्भगृह है, जो ५.७८ मीटर लम्बे तथा ५.७८ मीटर चौड़े (१० फुट लम्बे तथा १० फुट चौड़े) वर्गागार रूप में है। गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के शाख आदि समाप्त हो गये हैं। इस गर्भगृह के अन्दर दानेश्वर नाम से सम्बोधित किया जाने वाला शिवलिंगम् प्रतिष्ठित है।

उत्सेध विन्यास अथवा ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था में इस मन्दिर का प्रमुख उल्लेखनीय अंग इसका विमान है। गर्भगृह के ऊपर खड़ा यह विमान स्थापत्य की दृष्टि से राजेश्वर तथा राजीवलोचन मन्दिर की स्थापत्य-योजना के अनुकरण का प्रमाण प्रस्तुत करता है। अधिष्ठान और उस पर का उपपीठगढ़त पूर्व परम्परानुसार है। जंघे का अधोभाग भी पूर्व उदाहरणों के अनुकरण पर कुम्भाकृति में गढ़ा गया है। जंघे का शेष भाग छद्म स्तम्भों अथवा भित्ति स्तम्भों के उभार में अभिव्यक्ति द्वारा भरा गया है। उत्तरी तथा दक्षिणी दिशा में विमान के जंघे की उपल्ली सतह पर मध्य में पूर्व परम्पराओं का त्याग कर जालीदार झरोखा बनाया गया है। परन्तु पश्चिम की ओर पूर्व उदाहरणों की भाँति अलिन्द है। इस मन्दिर का शिखर तथा मस्तक राजीवलोचन मन्दिर तथा राजेश्वर मन्दिर के शिखर और मस्तक की यथार्थ अनुकृति प्रतीत होता है। दानेश्वर मन्दिर त्रिरथ प्रकार का तथा त्र्यंग बाड वाला

मन्दिर वास्तु है।

कुलेश्वर महादेव मन्दिर[1]—प्रारम्भिक अध्याय में यह अनुमान प्रस्तुत किया गया है कि वर्तमान कुलेश्वर नाम प्राचीन उत्पलेश्वर का विकृतरूप है।

कुलेश्वर महादेव का मन्दिर महानदी और पैरी नदी के संगम पर बना हुआ है। राजिम के अन्यान्य मन्दिरों की भाँति इस मन्दिर का भी निर्माण एक जगती पर किया गया है। परन्तु इस मन्दिर की प्राकृतिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए स्थपतियों ने नदी की प्रलयंकारी बाढ़ के आघात से मन्दिर की रक्षा करने के लिए इस जगती के निर्माण में जिस बुद्धिकौशल का परिचय दिया है वह उनके तकनीकी ज्ञान का जीवन्त प्रमाण है। सामान्यत: अन्य मन्दिरों में जहाँ जगती का वास्तुसंस्थापन आयताकार रूप में किया गया है वहाँ इस जगती को अष्टभुजाकार रूप में प्रस्थापित किया गया है। इसका स्पष्ट प्रयोजन नदी की बाढ़ से होने वाले कटाव की प्रक्रिया से निर्मिति को सुरक्षित बनाये रखना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किये गये कार्य का दूसरा चरण इस जगती की असमान्य ऊँचाई के द्वारा पूरा किया गया है। यह जगती ५·१८ मीटर (१७ फुट) ऊँची है तथा इसके निर्माण में अपेक्षाकृत बहुत छोटे-छोटे आकार के प्रस्तर-खण्डों का प्रयोग किया गया है। निर्माण-सामग्री की यह प्रकृति निर्मिति को सुदृढ़ता प्रदान करने वाली थी।

जगती के ऊपर बनाये गये कुलेश्वर (उत्पलेश्वर) महादेव के मन्दिर ने अपने सुदीर्घ इतिहास में अनेकों उतार-चढ़ाव देखे हैं। परन्तु लोगों की भावनाओं तथा आस्थाओं का राजीवलोचन के समकक्ष केन्द्र होने के कारण इसे सदैव से ही उचित संरक्षण प्राप्त रहा है। वर्तमान मन्दिर का स्थापत्य-रूप इसके मूल रूप से एकदम बदला हुआ है। इतना ही नहीं अपितु आज से सौ वर्ष पूर्व बेगलर तथा कनिंघम ने इसे जिस रूप में देखा था और इसका जिस प्रकार से उन लोगों ने वर्णन किया है उसकी तुलना में भी हम वर्तमान रूप को यथेष्ट बदला हुआ पाते हैं। वर्तमान मन्दिर उपर्युक्त ऊँची जगती के ऊपर एक आयताकार पीठ पर स्थित है।

यह मन्दिर पूर्वाभिमुख है। भू-विन्यास अर्थात् गर्भसूत्रीय व्यवस्था में इस मन्दिर में वे ही तीन अंग हैं जिन्हें हम यहाँ की मन्दिर वास्तु का सामान्य गुण कह सकते हैं। ये तीन अंग हैं—(अ) महामण्डप, (ब) अन्तराल, और (स) गर्भगृह।

यहाँ के अन्य मन्दिरों की ही भाँति इस मन्दिर का महामण्डप भी उत्तर तथा दक्षिण की ओर से पार्श्व-भित्तियों द्वारा बन्द है तथा पूर्व की ओर से पूरा खुला हुआ है। अन्य उदाहरणों की भाँति इस महामण्डप की सपाट छत मध्यवर्ती स्तम्भों की तीन कतारों तथा दोनों पार्श्व-भित्तियों से सन्नद्ध भित्ति-स्तम्भ की पंक्तियों पर आधारित है। प्रथम पंक्ति में स्तम्भों की संख्या मात्र दो है जबकि शेष दो पंक्तियों में तीन-तीन स्तम्भ हैं।

महामण्डप के स्तम्भों को उनके चाक्षुष रूप के आधार पर चार वर्गों में विभक्त

---

१. चित्र फलक १६, क्रमांक २

किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में उन स्तम्भों का उल्लेख कर सकते हैं, जिनका शीर्ष राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के स्तम्भों की भाँति पूर्णघट के अलंकरणात्मक अभिप्राय से मण्डित है। इस वर्ग के उदाहरणों को भी दो उपवर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग के अन्तर्गत प्रथम पंक्ति के दोनों स्तम्भ आते हैं। इनमें निचला तीन चौथाई भाग चतुरस्र है। ऊपर के एक चौथाई को अष्टास्र, आदि क्रम में कोरा गया है तथा सबसे ऊपरी भाग को पल्लव अलंकरण से युक्त वृत्तरूप में गढ़ा गया है। इसके ऊपर प्रवाहित मंजरी से मण्डित पूर्णघट है। पूर्णघट के ऊपर वृत्त तथा चतुरस्र रूप में परगहा है। परगहे के ऊपर चौकोर बैठकी है। इन स्तम्भों पर बंधनी नहीं है, जो असामान्य बात है और कालान्तर में किये गये मरम्मत आदि के कारण समाप्त कर दिया गया जान पड़ता है। बेगलर के द्वारा दिये गये विवरण के आधार पर विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रथम पंक्ति के इन दोनों स्तम्भों को बाद में बैठाया गया है क्योंकि उक्त विवरण में इन दोनों स्तम्भों का उल्लेख नहीं है। ऐसी स्थिति में इन दोनों को अन्यत्र से लाकर अथवा जब वर्तमान महामण्डप को छोटा किया गया होगा उस समय शेष बचे स्तम्भों को इस रूप में स्थापित कर इनके द्वारा घेरी गयी भूमि पर्यन्त भाग को छत से ढँक दिया गया होगा। दूसरी पंक्ति के तीनों स्तम्भ भी एक दूसरे से समरूपता नहीं रखते। दो स्तम्भों में नीचे तथा ऊपर के भाग को चतुरस्र रखा गया है, जबकि मध्यभाग को अष्टास्र, षोडसास्र तथा वृत्र क्रम में गढ़ा गया है। चतुरस्र के ऊपर सीधी कपोतपाली को बैठा दिया गया है, जो स्थापत्य की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है तथा वर्तमान संस्थापन ज्ञात होता है। तीसरे स्तम्भ में नीचे और ऊपर के भाग को चतुरस्र ही रखा गया है तथा मध्य को षोडसास्र कर दिया गया है। इस षोडसास्र को पुनः मध्य से प्रवाहित अष्टास्र द्वारा दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। तीसरी पंक्ति के स्तम्भों को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग के स्तम्भ में नीचे से तीन चौथाई भाग को चतुरस्र रखा गया है, जबकि ऊपर वाले एक चौथाई को एक दूसरे की ओर झुके पल्लव तथा इनके मध्य में प्रवाहित वृत्त से भरा गया है। ऊपरी भाग चतुरस्र है। दूसरे वर्ग के स्तम्भों में थम्भ भाग पूरा चतुरस्र है। इसके शीर्ष को पत्रावली से पिरोया गया है। इसके ऊपर चौकोर बैठकी है। इन स्तम्भों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः इनका सम्बन्ध किसी एक वास्तु से न होकर भिन्न-भिन्न निर्मितियों से रहा है तथा कालान्तर में लोगों द्वारा यहाँ लाकर स्थापित कर दिया गया है।

भित्ति-स्तम्भ का सम्मुख भाग राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के भित्ति-स्तम्भों की परम्परा में एक-एक मानुषाकार प्रतिमाओं से मण्डित है। परन्तु वर्तमान मूर्तियों को देखने से ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ का सम्बन्ध मूलतः भित्ति-स्तम्भों से नहीं रहा है। प्रवेश से बाँयी ओर की प्रथम पार्श्व भित्ति पर मयूरासीन स्वामी कार्तिकेय की मूर्ति है। दूसरे भित्ति-स्तम्भ पर देवी की प्रतिमा है, जिसकी सही पहचान कर पाना असम्भव है। लेखक इसकी समता उत्पलाक्षी से करता है। दाहिने तरफ के भित्ति-स्तम्भ के क्रमांक १ पर एक अश्वारूढ़ा नारी की प्रतिमा है। यह

प्रतिमा राजिम की गौरव गाथा लिखने वाले स्थपतियों एवं शिल्पियों की कृति नहीं है। इसमें अप्रौढ़ शिल्प का स्पष्ट दर्शन होता है। इस पार्श्व की दूसरी प्रतिमा महिषासुर मर्दिनी की है। यह प्रतिमा अत्यन्त ही ओजपूर्ण है।

महामण्डप का विस्तार अन्य उदाहरणों की तरह पूर्व से पश्चिम की ओर न होकर उत्तर से दक्षिण की ओर है। यद्यपि वर्तमान में इसका भी स्वरूप आयताकार है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके रूप में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। प्रारम्भ में इसका विस्तार उत्तर की ओर कम से कम उस सीमा तक अवश्य रहा है जहाँ तक वर्तमान जगदम्बा मन्दिर के मण्डप का विस्तार है।

इस महामण्डप से लगा हुआ अन्तराल है। कुलेश्वर महादेव मन्दिर के वास्तु संस्थापन की सबसे महत्त्वपूर्ण बात इसमें दो गर्भगृहों की व्यवस्था है। जिस समय बेगलर यहाँ आया था उस समय दोनों गर्भगृह अपने मौलिक स्वरूप में विद्यमान थे। उन्होंने एक गर्भगृह में कुलेश्वर के नाम से प्रसिद्ध लिङ्ग को प्रतिष्ठित पाया था तथा दूसरे को खाली देखा था। वर्तमान गर्भगृह वही है जिसमें कुलेश्वर लिङ्ग है, परन्तु अब दूसरे गर्भगृह को इससे अलग कर दिया गया है। इसकी पहचान वर्तमान गर्भगृह के उत्तरी बाजू में बने कक्षनुमा गर्भगृह से की जा सकती है, जिसमें जगदम्बा की प्रतिमा स्थापित कर दी गयी है। एक ही महामण्डप से सम्बद्ध दो गर्भगृहों वाले वास्तु की यह योजना अपने आप में सर्वथा विलक्षण उदाहरण है। इसमें संशय नहीं कि इस प्रकार की स्थापत्य-योजना का अन्य उदाहरण हमें पल्लव नरेशों के शैलोत्खनित मण्डप-वास्तु में देखने को मिलता है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यह वास्तु पल्लव शैलोत्खनित मण्डप-वास्तु से प्रभावित रहा है।

उत्सेध विन्यास अथवा ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था में इस मन्दिर के विमान में हमें अधिष्ठान, जंघा, शिखर और मस्तक प्राप्त होते हैं। परन्तु समस्त निर्मिति में इतना अधिक परिवर्तन हो चला है कि इसके मूल स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ भी कह पाना नितान्त असम्भव है। जो कुछ तथ्य उपलब्ध हैं उसके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि यह मन्दिर मूलतः नागर शैली के वास्तु का श्रेष्ठ उदाहरण रहा होगा। जिस समय बेगलर ने इसे देखा था उस समय उन्होंने यह मत अभिव्यक्त किया था कि इसका वर्तमान रूप कलचुरियों की रायपुर शाखा के नरेशों के शासन काल में बनाया गया होगा। परन्तु साथ ही उन्होंने इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं अनुभव की थी कि मूलतः इस मन्दिर का निर्माण यथेष्ट प्राचीन समय में किया गया था। वर्तमान विमान के अधिष्ठान में उपपीठ-गढ़त की परम्परा का निर्वाह, जंघे का तल जंघा तथा अपर जंघा-इन दो उपांगों में विभक्त रहने की सम्भावना, वर्तमान शिखर का ऐहोल के पापनाथ मन्दिर के शिखर से सादृश्य तथा मस्तक का नागर शैली के मन्दिरों के मस्तक से समरूपता आदि ऐसे तथ्य हैं जो इस मन्दिर की प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं। इसके महामण्डप की दाहिनी पार्श्व-भित्ति पर एक शिलालेख है, जो यद्यपि अभी तक अत्यधिक टूटे तथा घिसे हुए होने के कारण पढ़ा नहीं जा सका है, परन्तु लिपि के आधार पर इसका समय ८वीं-९वीं शती

स्वीकार किया जा सकता है। इस तिथि को आधार मानकर विद्वानों ने इसका सम्बन्ध इस मन्दिर से स्वीकार करते हुए इसके निर्माण की तिथि को भी ८वीं-९वीं शती में स्थिर किया है।

स्थापत्य की दृष्टि से इस मन्दिर के महत्त्व तथा अन्य उल्लेखनीय बातों का उल्लेख पूर्व अध्याय में किया जा चुका है।

रामचन्द्र का मन्दिर[1] — तिथिक्रम के आधार पर यह मन्दिर कुलेश्वर महादेव मन्दिर के बाद आता है। यह राजीवलोचन मन्दिर से थोड़ी दूरी पर दक्षिण-पूर्व की दिशा में स्थित है। इस मन्दिर के निर्माण के सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यन्त ही भ्रान्तिपूर्ण धारणा रही है। बेगलर से लेकर कज़िन पर्यन्त सभी पुरातत्ववेत्ताओं का मत रहा है कि इस मन्दिर का निर्माण सिरपुर से प्राचीन सामग्रियों को लाकर यथेष्ट बाद में किया गया है। इस तरह इन विद्वानों ने स्थापत्य की दृष्टि से एक प्रकार से इस मन्दिर को महत्त्वहीन मानते हुए केवल इसके स्तम्भों तथा यहाँ की मूर्तियों को ही पुरातात्त्विक महत्त्व का घोषित किया है। परन्तु यह मान्यता नितान्त निर्बल है। हमारे पास यह स्वीकार करने के लिए कोई आधार नहीं है कि सिरपुर से लायी गयी सामग्रियों के द्वारा इस मन्दिर का निर्माण किया गया था। इसके विपरीत इस मन्दिर के दक्षिण तथा उत्तर की ओर के टीले, उन टीलों पर प्राचीन स्मारक के चिह्न तथा इस मन्दिर के निर्माण में प्रयुक्त स्थापत्य की प्रौढ़ता सूचक तकनीक आदि ऐसे तथ्य हैं जो न केवल इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं अपितु इस बात को स्वीकार करने के लिए विवश करते हैं कि अपने मौलिक तथा पूर्णरूप में यह पंचायतन प्रकार का मन्दिर-वास्तु रहा होगा।

राजीवलोचन तथा पंचेश्वर महादेव के मन्दिरों की ही भाँति यह मन्दिर भी मूलतः ईंटों का बना हुआ था। इतना ही नहीं, इससे सम्बद्ध देवलिकाएँ भी ईंटों से बनायी गयी थीं। लेखक का यह मत है कि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इस मन्दिर को ही रतनपुर के कलचुरी नरेशों के सामन्त जगपालदेव द्वारा बनवाया गया मन्दिर मानना उचित होगा। इस सम्बन्ध में पूर्व अध्यायों में हमने विस्तारपूर्वक विचार किया है। अतः यहाँ उल्लेख मात्र ही यथेष्ट होगा।

यहाँ के प्रायः सभी मन्दिरों की भाँति यह देवालय भी एक आयताकार जगती पर अधिष्ठित है। भू-विन्यास अथवा गर्भसूत्रीय व्यवस्था में राजीवलोचन मन्दिर के ही समान इसके चार अंग हैं—(१) महामण्डप, (२) अन्तराल, (३) गर्भगृह एवं (४) प्रदक्षिणापथ।

महामण्डप अन्य उदाहरणों से समरूपता रखते हुए सपाट छत वाला है तथा उत्तर और दक्षिण की ओर से पार्श्वभित्तियों द्वारा बन्द है, जबकि पूर्व की ओर से पूरा खुले हुए होने के कारण तथा गर्भगृह के प्रवेश द्वार का भी पूर्व की ओर मुख होने के कारण यह पूर्वाभिमुख वास्तु है। महामण्डप की सपाट छत को आश्रय देने के

१. चित्र फलक १६, क्रमांक १

लिए इसमें मध्यवर्ती स्तम्भों की दो कतारें तथा दोनों पार्श्वभित्तियों से सन्नद्ध भित्ति-स्तम्भों की एक-एक पंक्ति हैं। महामण्डप के स्तम्भों का शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन स्तम्भों पर राजिम ही नहीं अपितु समस्त छत्तीसगढ़ क्षेत्र की प्राचीन मूर्तिकला के कुछ श्रेष्ठतम उदाहरण सुरक्षित हैं। प्रत्येक पंक्ति में स्तम्भों की संख्या चार-चार है। इसी तरह प्रत्येक पार्श्वभित्ति पर के भित्ति स्तम्भों की संख्या भी चार-चार है। दोनों मध्यवर्ती कतारों के पहले स्तम्भ प्रायः एक ही शैली के हैं तथा इनके बाह्य रूपमण्डन में भी यथेष्ट समरूपता है। ये दोनों स्तम्भ चौकोर बैठकी पर स्थापित किये गये हैं। स्तम्भ का निचला दो तिहाई भाग समचतुरस्त्र है। इसके ऊपर क्रमशः अष्टास्त्र, वृत्त आदि आते हैं। वृत्त के ऊपर ऊर्ध्वाकार अलंकरण-हीन बैठकी है, जिस पर पूर्णघट अभिप्राय गढ़ा गया है। इस पूर्णघट के ऊपर चत्वर परगहा है। इस परगहे के ऊपर बँधनी (कपोतपाली) है। दाहिने ओर की पंक्ति के दूसरे स्तम्भ पर शालभंजिका की अत्यन्त ही मनोहारी मूर्ति है।[1] इसी तरह बाँयी ओर के दूसरे स्तम्भ पर आलिंगनबद्ध मिथुन मूर्ति है।[2] दाहिने तरफ के तीसरे स्तम्भ पर शालभंजिकाओं की दो मूर्तियाँ उभार में रूपायित हैं।[3] इनमें से एक को वीणा बजाते हुए बताया गया है। बाँयी ओर के तीसरे स्तम्भ पर भी शालभंजिकाओं की दो प्रतिमाएँ उभार में बनायी गयी हैं। दोनों ही तरफ के तीसरे स्तम्भों पर शाल-भंजिका की मूर्तियों के अतिरिक्त अन्य दृश्य भी उत्कीर्ण हैं। उदाहरण के लिए बाँयी ओर वाले स्तम्भ के दूसरे पार्श्व पर बन्दर परिवार का बड़ा मनोरंजक दृश्य है। इसी तरह दाहिने बाजू वाले स्तम्भ पर भी माँ और शिशु, तथा संगीत समाज का बड़ा ही भावात्मक अंकन है। मूर्तियों से युक्त ये स्तम्भ यथेष्ट प्राचीन हैं। सम्भवतः इन्हें किसी भवन-स्मारक से लाकर यहाँ बैठाया गया है। दोनों कतारों के चौथे स्तम्भ अन्य उदाहरणों से भिन्न प्रकार के हैं। परन्तु इन पर भी विविध विषयों का मूर्तरूप में चारु चित्रण है।

भित्तिस्तम्भों का सम्मुख भाग राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के भित्ति-स्तम्भों की भाँति ही विविध विषयों की पूर्णमानुषाकार मूर्तियों से मण्डित है। दोनों पार्श्वों की मूर्तियों के विषयगत सम्बन्धों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ भितिस्तम्भ वर्तमान समय तक अपने मौलिक स्वरूप में तथा वास्तुसंस्थापन में उनके लिए निर्धारित स्थान विशेष में अवस्थित हैं। यह एक ऐसा तथ्य है, जो इस मन्दिर की प्राचीनता सम्बन्धी धारणा को सम्बल प्रदान करता है। दायीं ओर की पार्श्वभित्ति पर के पहले भित्ति-स्तम्भ पर मकर वाहिनी गंगा की प्रतिमा है। दूसरे पर एक राजपुरुष की मूर्ति है। तीसरे पर अष्टभुजी गणेश की मूर्ति है। चौथे पर षट्भुजी नृवाराह की प्रतिमा है। इसी तरह बायीं ओर की पार्श्व भित्ति पर के पहले भित्ति-स्तम्भ पर पुनः मकर वाहिनी गंगा की मूर्ति मिलती है। दूसरे पर किसी

१. चित्र फलक १८, क्रमांक २
२. चित्र फलक १८, क्रमांक ३
३. चित्र फलक १८, क्रमांक १

राजपुरुष की खड़ी हुई मूर्ति है। तीसरे पर पुनः मकर वाहिनी गंगा की मूर्ति है। तथा चौथे भित्ति-स्तम्भ पर अष्टभुजी नृवाराह की मूर्ति है।

महामण्डप के पश्चिमी छोर पर गर्भगृह के प्रवेश द्वार के दोनों ओर के प्रदक्षिणापथ का प्रवेशद्वार बना हुआ है। राजीवलोचन मन्दिर में तथा यहाँ के अन्य सान्धार प्रकार के देवालयों में प्रदक्षिणापथ को महामण्डप से जोड़ने के लिए बनाये गये प्रवेशद्वार को सादा छोड़ दिया गया है, परन्तु रामचन्द्र मन्दिर के प्रदक्षिणापथ से सम्बन्धित प्रवेशद्वार द्वारशाखाओं से युक्त हैं, तथा इनके अधो भाग पर गंगा-यमुना नदी-देवियों की मूर्तियाँ हैं। राजिम के किसी भी मन्दिर के प्रवेश द्वार में नदी-देवियों का प्रवेशद्वार के पाखों पर अंकन नहीं मिलता। इस दृष्टि से ये दोनों प्रवेश द्वार विशेष महत्त्व के हो जाते हैं। इन्हें देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन दोनों प्रवेशद्वारों का सम्बन्ध किसी अन्य छोटे मन्दिरों से रहा है। इस सन्दर्भ में यह अनुमान प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा कि बहुत सम्भव है कि ये प्रवेशद्वार मूलतः रामचन्द्र मन्दिर से सम्बन्धित अनुषांगिक देवलिकाओं के गर्भगृह पर स्थापित किये गये रहे हों। ऐसे लघु देवलिकाओं की ऐतिहासिकता वर्तमान टीलों पर दिखाई पड़ने वाले स्मारकीय चिह्नों से पुनः अनुमानित है। प्रदक्षिणापथ का स्वरूप राजीवलोचन मन्दिर के प्रदक्षिणापथ से मिलता-जुलता है।

महामण्डप से अन्तराल में प्रवेश के लिए एक विशाल प्रवेशद्वार बना हुआ है। इस प्रवेशद्वार को देखने से कोई भी व्यक्ति यह अनुमान कर सकता है कि इसका वर्तमान रूप यथेष्ट बाद का है। परन्तु इसमें संशय नहीं कि इस प्रवेश द्वार के कुछ पाखों का सम्बन्ध सम्भवतः मूल वास्तु से रहा हो। वर्तमान में यह सप्तशाख वाला प्रवेशद्वार है। इसके प्रत्येक पाख पर विविध विषयों से सम्बन्धित मूर्तियाँ तथा अभिप्राय उभार में प्रकट किये गये हैं। इसमें दशावतार का अंकन विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, कार्तिकेय आदि अन्य देवताओं तथा मिथुन प्रतिमाओं का भी रूपांकन है। बाँएँ बाजू के अन्तिम शाख पर नारी पुरुष की युगनद्ध प्रतिमाएँ हैं।

अन्तराल और गर्भगृह दोनों का निर्माण वर्गाकार वास्तु के रूप में किया गया है।

उत्सेध विन्यास अथवा ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था में इस मन्दिर के विमान को भी अधिष्ठान, जंघा, शिखर और मस्तक इन चार उपांगों में विभक्त किया जा सकता है। विमान के उपल्ली सतह पर मोटा प्लास्तर चढ़ा दिया गया है। अतः इसके मूल रूप के सम्बन्ध में सही दिशा का निर्देश प्राप्त कर सकना असम्भव प्रायः हो चला है। परन्तु प्लास्तर के ऊपर से देखने पर भी जिस वास्तुसंस्थापन शैली का अनुमान किया जा सकता है, उसके आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह मूलरूप में नागर शैली के मन्दिर वास्तु के अनुकरण पर बनाया गया रहा होगा। इसके अतिरिक्त इस मन्दिर के विमान के उत्सेध विन्यास के रूपायन में एक ओर जहाँ राजिम के मन्दिर-वास्तु की विशेषताओं को स्वीकार करने का आग्रह रहा है, वहीं दूसरी ओर इसके निर्माता स्थपतियों के मानस में तत्कालीन प्रचलित शैली का भी प्रभाव

रहा है। अतः इस मन्दिर में राजिम के मन्दिर-वास्तु परम्परा का प्रभाव और कलचुरीकालीन मन्दिर स्थापत्य की लोकप्रिय शैली दोनों का समन्वय है। समय-समय पर किये गये मरम्मत आदि के कार्यों के फलस्वरूप इस समन्वित रूप में जाने-अनजाने कई परिवर्तन हो गये हैं। इतना ही नहीं, अपितु वर्तमान प्लास्तर ने बनी हुई विशेषताओं को भी उदरस्थ कर लिया है। यही कारण है कि पुरातत्त्वविद इसे आधुनिक कृति मानने के लिए विवश हो जाते हैं। उत्सेध में अधिष्ठान उपपीठगढ़त से युक्त है। जंघा अपना समस्त मौलिक स्वरूप खो चुका है। शिखर नागर प्रकार का है तथा अपने मूल रूप में यह जांजगीर के शिव मन्दिर के शिखर के समान रहा होगा, मात्र इतना ही अनुमान किया जा सकता है। मस्तक का निर्माण राजीवलोचन मन्दिर की परम्परा में किया गया है। लेखक की धारणा है कि यदि इस मन्दिर के विमान की उपल्ली सतह से वर्तमान प्लास्तर को हटा दिया जाता है तो इस मन्दिर के मौलिक रूप के सम्बन्ध में यथेष्ट सीमा तक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

पंचेश्वर महादेव मन्दिर[1]—कालक्रम की दृष्टि से लेखक इसे रामचन्द्र मन्दिर के बाद का मानता है।

यह मन्दिर भी राजीवलोचन मन्दिर तथा रामचन्द्र मन्दिर की भाँति ईंटों का बना हुआ है। परन्तु रामचन्द्र मन्दिर की भाँति इसका समस्त स्थापत्य रूप प्लास्तर के मोटे तह के नीचे लुप्त हो गया है। वर्तमान में इसके एक अंग के टूट जाने से इस सम्बन्ध में कई बातें स्पष्ट हो आई हैं।

यह मन्दिर नदी के तट पर बनाया गया है तथा पश्चिमाभिमुख है। राजिम के अन्य मन्दिरों की भाँति यह भी एक ऊँची जगती पर बनाया गया है। जगती इस उदाहरण में सामान्य की अपेक्षा अधिक ऊँची है तथा इसका पूर्वी भाग एक सीधी रेखा में न होकर वृत्तायत के रूप में है। इस विशिष्टता का एकमात्र कारण नदी की बाढ़ से निर्मिति की रक्षा के लिए स्थपतियों द्वारा वास्तुसंस्थापन में उत्पन्न किया गया तकनीकी आधार है। वर्तमान में इस मन्दिर का केवल विमान ही शेष है और वह भी अत्यधिक जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। फलतः इसके स्थापत्य सम्बन्धी कलात्मक वैभव का वर्णन कर पाना असम्भव है। पूर्व अध्याय में हमने इस मन्दिर के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डाल दिया है, तथा उक्त सन्दर्भ में राजिम की स्थापत्य कला के इतिहास में इसके महत्त्व के सम्बन्ध में भी उल्लेख कर दिया गया है। अतः उनका पुनः उल्लेख करना अनुचित होगा। परन्तु इतना कह देना अनुपयुक्त न होगा कि इस उदाहरण में आकर हम मस्तक के भिन्न रूप का दर्शन करते हैं। पंचेश्वर महादेव मन्दिर के मस्तक का निर्माण कलचुरीकालीन मन्दिर वास्तु के मस्तकों की परम्परा में है।

राजिम तेलिन मन्दिर—यह मन्दिर राजेश्वर तथा दानेश्वर मन्दिर के पीछे स्थित है। वर्तमान में इस मन्दिर का विमान ही प्राचीन निर्मिति का प्रतिनिधि है।

---

१. चित्र फलक १६, क्रमांक १

यह पूर्वाभिमुख है। राजेश्वर तथा दानेश्वर मन्दिर और इस मन्दिर के बीच इतना कम अन्तर है कि इसे देख कर यह विश्वास करना पड़ता है कि मूलतः इस मन्दिर में केवल विमान मात्र रहा होगा।

इस मन्दिर का वास्तुशिल्प पंचेश्वर तथा भूतेश्वर मन्दिर के वास्तुशिल्प से समरूपता रखता है। विमान-अधिष्ठान, जंघा, शिखर और मस्तक इन चार उपांगों से युक्त है। अधिष्ठान में उपपीठगढ़त के चिह्न स्पष्ट हैं। जंघा दो तलों में विभक्त है, परन्तु प्लास्तर के कारण इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना असम्भव है। शिखर नागर शैली का है और पंचेश्वर मन्दिर तथा भूतेश्वर मन्दिर के शिखर से मिलता-जुलता है। मस्तक भी उक्त मन्दिरों की परम्परा में है। अपने इन समस्त वैशिष्ट्यों के कारण यह कलचुरी कालीन निर्मिति प्रतीत होता है।

भूतेश्वर महादेव मन्दिर[1]—यह मन्दिर नदी के तट पर पंचेश्वर महादेव मन्दिर के बाजू में अवस्थित है। अन्य उदाहरणों की भाँति यह भी ऊँची जगती पर स्थापित किया गया वास्तु रूप है। जगती की ऊँचाई और उसके संस्थापन की सुदृढ़ता स्थपतियों की तकनीकी सूझ का परिणाम है। यह मन्दिर भू-विन्यास में यहाँ के अन्य पूर्ण मन्दिरों की तरह महामण्डप, अन्तराल और गर्भगृह से युक्त है।

महामण्डप राजिम के मन्दिर-वास्तु की परम्परा में उत्तर तथा दक्षिण की ओर पार्श्वभित्तियों द्वारा बन्द है तथा पूर्व की ओर से पूरा खुला है। यह महामण्डप स्थानीय परम्परानुसार सपाट छत वाला है तथा इस छत को सहारा देने के लिए इसमें चार-चार स्तम्भों की दो मध्यवर्ती पंक्तियाँ एवं दोनों पार्श्वभित्तियों से सन्नद्ध चार-चार भित्तिस्तम्भ हैं। इस मन्दिर के स्तम्भ तथा भित्तिस्तम्भ सादे हैं।

उत्सेध अथवा ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था में इस मन्दिर का विमान अधिष्ठान, जंघा, शिखर और मस्तक से युक्त है। विमान नागर प्रकार का है तथा कलचुरी-कालीन मन्दिर वास्तु की परम्परा में बनाया गया है। लेखक का अनुमान है कि इस मन्दिर की समता अभी हाल ही में रायपुर से प्राप्त शिलालेख में उल्लिखित शिव मन्दिर से करना चाहिए। इस अनुमान का आधार जगन्नाथ मन्दिर के साथ इस मन्दिर का तुलनात्मक अध्ययन है। दोनों ही मन्दिर परवर्ती कालीन हैं तथा इनके निर्माण में एक ओर जहाँ राजिम के मन्दिर-वास्तु की परम्परागत शैली के अनुकरण का उपक्रम है वहीं दूसरी ओर कलचुरी कालीन मन्दिर का भी प्रभाव है। परन्तु दोनों ही स्तरों पर इसके रूपमण्डन में वह शालीनता नहीं आने पायी है जो रामचन्द्र मन्दिर में देखने को मिलती है। अतएव इन्हें रामचन्द्र मन्दिर से यथेष्ट बाद की निर्मिति स्वीकार करना अनुपयुक्त न होगा। उपर्युक्त शिलालेख की लिपि, चौदहवीं शताब्दी की जान पड़ती है। अतः यही समय इस मन्दिर के निर्माण का भी स्वीकार किया जा सकता है।

जगन्नाथ मन्दिर—राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के उत्तरी-पश्चिमी कोने

---

१. चित्र फलक १९, क्रमांक २

पर बने नृसिंह मन्दिर के उत्तरी बाजू में प्राकार से बाहर यह मन्दिर स्थित है। रायपुर से प्राप्त उपर्युक्त शिलालेख में इस मन्दिर के निर्माण का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। अतः इसे चौदहवीं शती की निर्मिति मानना होगा।

यह मन्दिर भी एक जगती पर बनाया गया है। इस पूर्वाभिमुख देवायतन के महामण्डप, अन्तराल, गर्भगृह और प्रदक्षिणापथ भू-विन्यास योजना में ये चार प्रमुख अंग हैं। महामण्डप परम्परानुसार पूर्व की ओर से पूरा खुला हुआ तथा उत्तर और दक्षिण की ओर से पार्श्वभित्तियों द्वारा बन्द है। महामण्डप की सपाट छत स्तम्भों तथा भित्तिस्तम्भों पर आधारित है। भूतेश्वर मन्दिर के महामण्डप के स्तम्भों तथा भित्तिस्तम्भों की ही भाँति इस मन्दिर के स्तम्भ भी सादे हैं। इसके कुछ स्तम्भ दानेश्वर महादेव मन्दिर के स्तम्भों से सादृश्य रखते हैं।

जगन्नाथ मन्दिर का महामण्डप राजिम के अन्य मन्दिरों के महामण्डपों की वास्तुयोजना से कुछ भिन्नता लिए हुए है। इस उदाहरण में हम महामण्डप को अन्य उदाहरणों की भाँति आयताकार के स्थान पर वर्गाकार रूप में पाते हैं।

अन्तराल और गर्भगृह भी वर्गाकार हैं। प्रदक्षिणापथ को महामण्डप से सम्बद्ध करने के लिए रामचन्द्र मन्दिर की ही तरह दो प्रवेश द्वार गर्भगृह के प्रवेश द्वार के दोनों पार्श्वों में बनाये गये हैं। परन्तु प्रदक्षिणापथ के इन द्वारों पर द्वार-शाखा का अभाव है। गर्भगृह का प्रवेशद्वार भी बाद का है।

उत्सेध विन्यास अर्थात् ब्रह्मसूत्रीय व्यवस्था में इस मन्दिर के विमान के चार उपांग है—(१) अधिष्ठान, (२) जंघा, (३) शिखर, एवं (४) मस्तक।

अधिष्ठान से लेकर मस्तक पर्यन्त विमान के उपल्ली सतह के रूपमण्डन में नागर शैली के मन्दिर-वास्तु की मान्य रूपविधा का रूपायन है।

सोमेश्वर महादेव मन्दिर[1]—यह मन्दिर राजिम की वर्तमान बस्ती के उत्तर में थोड़ी दूरी पर नदी के तट से थोड़ा हट कर स्थित है। स्थापत्य की दृष्टि से यह अपेक्षाकृत अल्प महत्त्वपूर्ण है, तथा वर्तमान रूप में बहुत बाद की कृति प्रतीत होता है। यह तथ्य इसके अव्यवस्थित अंग-विन्यास को देखने से स्पष्ट हो जाता है। परन्तु वर्तमान मन्दिर के महामण्डप से लगा हुआ एक प्राचीन मन्दिर का अवशेष है। इसके अतिरिक्त इस मन्दिर के महामण्डप के स्तम्भ प्राचीन हैं तथा अपनी शिल्पशैली में राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के स्तम्भों से समरूपता रखते हैं। पुरातात्विक दृष्टि से इस मन्दिर के महत्त्व के बारे में हमने सन्दर्भित अध्याय में यथेष्ट रूप से प्रकाश डालने का प्रयास किया है तथा इसके स्थापत्य सम्बन्धी विशेषताओं के सम्बन्ध में भी पूर्व अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है।

● ● ●

---

१. चित्र फलक १९, क्रमांक १

अध्याय पाँच

मूर्तिकला

प्राचीन भारतीयों ने अपने सुदीर्घ ऐतिहासिक जीवन में कला को मात्र कला के लिए कभी भी स्वीकार नहीं किया, अपितु एक ध्येय विशेष की उपलब्धि के साधन रूप में ही इसकी सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन सत्ता स्वीकार की जाती रही। प्रयोजन विशेष की पूर्ति के लिए सुदृढ़ आधार के रूप में सदैव स्वीकार किये जाते रहने के कारण कला-सृजन की प्रेरणा का आधार भी सोद्देश्य रहा। प्रयोजन की प्रकृति तथा प्रवृत्ति के द्वारा कला की भाव-भूमि का निर्माण होता रहा और आस्था ने उसे अभिव्यक्ति का चाक्षुष रूप प्रदान करने में सहायता की। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारतीय मूर्तिकला का सीधा सम्बन्ध लोगों की भावना और आस्था से रहा है। भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही स्तरों पर "रसो वै सः" के रूप में जिस परमतत्त्व की उपलब्धि को मानवजीवन का चरम लक्ष्य माना गया, उसकी सर्वांगीण अभिव्यक्ति को कला का विषय स्वीकार किया गया। अतः प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के उभयगुणों से संवलित भारतीय कला को आकृति प्रधान (जिसमें मात्र बाह्य सौन्दर्य के रूपायन पर बल दिया जाता है), प्रतिकृति प्रधान (जिसमें सुन्दरतम प्राकृतिक रूप की यथार्थानुकृति का प्रयास होता है) एवं अभिव्यक्ति प्रधान (जिसमें अमूर्त भावों को मूर्त करने की सफल चेष्टा होती है), इन तीनों गुणों के सम्यक् समाहार से त्रिगुणात्मिका कही जा सकती है। भारतीयों का जीवनदर्शन आध्यात्ममूलक था, अतः उसकी कला में भी आकृति अथवा प्रतिकृति की अपेक्षा अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया जाना स्वाभाविक ही था। इस तरह प्राचीन भारत में युग विशेष की भौतिक एवं आध्यात्मिक संस्कृति की पृष्ठभूमि में मूर्तिकला का सृजन, संरक्षण और संवर्धन होता रहा है। फलतः विभिन्न युगों से सम्बन्धित भारतीय मूर्तिकला के उदाहरण समसामयिक भौतिक एवं आध्यात्मिक संस्कृति की तात्त्विक समीक्षा प्रस्तुत करने में सहायक साधन के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं।

राजिम में विकसित मूर्तिकला तथा इसकी वर्तमान में उपलब्ध अनेकानेक कृतियों के सम्बन्ध में भी उक्त बातें यथावत् रूप में चरितार्थ होती हैं। प्राप्त प्रतिमाओं में निर्देशित विषयों के अध्ययन से यहाँ की युगातीत धार्मिक दशा का वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है। विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित समकालीन मूर्तियों से तत्कालिक शासकवर्ग तथा सामान्य जनता की धार्मिक सहिष्णुता, उदारता आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि लोगों के धार्मिक जीवन से सम्बन्धित अनेक अज्ञात बातों का ज्ञान मात्र मूर्तियों से ही होता है। इसके अतिरिक्त इन मूर्तियों से तत्कालीन समाज में प्रचलित उपासना के विविध पन्थों के सम्बन्ध में

भी निश्चित जानकारी प्राप्त होती है। वस्तुतः इन मूर्तियों के माध्यम से हमें लोगों के धार्मिक जीवन से सम्बन्धित ऐसे अनेक अज्ञात तथ्यों के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है, जिनके सम्बन्ध में इतर स्रोत सर्वथा मौन हैं।

धार्मिक जीवन के अतिरिक्त इन मूर्तियों के अध्ययन से लोगों की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति के सम्बन्ध में भी परोक्ष रूप से एक सीमा तक अनुमान लगाया जा सकता है। समाज की आर्थिक सुख-समृद्धि तथा ऐश्वर्य का प्रत्यक्ष प्रभाव कला पर पड़ता है, तथा इसकी अभिव्यक्ति भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसके माध्यम से होती है। मूर्तियों के बाँधों में आलेखित आल्हादपूर्ण जीवन, मणि-मुक्ता जड़ित विविध अलंकरण, सुरुचिपूर्ण वस्त्राभरण आदि ऐसे तथ्य हैं जो समाज की आर्थिक सुख-सम्पन्नता से प्रादुर्भूत ऐश्वर्यशाली जीवन के निर्देशक हैं। इन मूर्तियों में शील, संयम तथा अनुभूतिजन्य अन्य सामाजिक आदर्शों की भावाभिव्यंजना में अनिवार्य रूप से प्रकट करने की भावना की जो गतिमान आतुरता दिखाई देती है तथा इसकी अभिव्यक्ति के पश्चात् जिस परम तुष्टि, शान्ति आदि मनोभावों का स्पष्ट निर्देशन मिलता हैं, वह जीवन में नैतिक तथा आत्मिक गुणों की प्रतिष्ठा एवं विकास के लिए अहर्निश सजग, सचेत, सचेष्ट और संकल्पवान मनःस्थिति का द्योतक है। यह व्यष्टिगत तथा समष्टिगत स्तर पर सदाचरण के नियमों की प्रतिष्ठा के लिए आकुल-आतुर जीवन का प्रतिबिम्ब है और इसकी उपलब्धि से प्राप्त दिव्य जीवन का सम्यक् उद्बोधन भौतिक तथा आध्यात्मिक संस्कृति की पूर्णता की स्थिति का सजीव रूपांकन है। राजिम से प्राप्त कला की इन महानतम् कृतियों का निर्माण मात्र जना-ग्रह द्वारा सम्भव नहीं हुआ। इनके सफल रूपायन में शिल्पकारों की सफलता के लिए राजनीतिक स्थिरता, प्रशासनिक प्रश्रय, शान्ति और सुव्यवस्था आदि का प्रत्यक्ष योग-दान होना स्वतः प्रमाणित सत्य है, जिसकी पुष्टि यहाँ से प्राप्त अभिलैखिक साक्ष्यों द्वारा भी हो जाती है।

राजिम से प्राप्त मूर्तिकला के समस्त उदाहरणों का सामान्य सर्वेक्षण यह सिद्ध कर देता है कि इनके रूपायन में शिल्पकारों ने सुनिश्चत परम्परा और मान्य प्रतिमा लक्षण का ही अनुगमन किया है। यहाँ की मानवीय, अर्धदैवीय अथवा दैवीय प्रति-माओं में अंग-विन्यास, रूपमण्डन, भाव-भंगिमा निर्देशन, वस्त्राभरण, केश-विन्यास, आदि सूक्ष्मांकनों तथा इनके निर्माण सम्बन्धी तकनीक एवं शैली आदि में अतिशय एकरूपता दिखाई पड़ती है। इस स्थिति के परिणामस्वरूप इन प्रतिमाओं को इनके सम्भावित निर्माण विधि के आधार पर अलग-अलग काल खण्डों में विभक्त कर पाना तथा इस प्रकार के सम्भावित विभाजन को आधार मानकर युग विशेष की मूर्तियों के कलात्मक तथा शैलीगत स्वरूप का तर्कपूर्ण एवं प्रामाणिक विश्लेषण करते हुए उनमे शैलीगत भेद सिद्ध कर पाना एक प्रकार से असम्भवप्रायः है। वस्तुतः इन मूर्तियों का निर्माण उस समय हुआ जब कला की परम्पराएँ अपने विकास की परास्थिति में पहुँचकर रूढ़ हो गयी थीं, विविध वर्गों की प्रतिमाओं के लक्षण सुनिश्चत हो जाने से अभिनव प्रयोग की भावना, आकांक्षा आदि कुंठित अथवा निश्चेष्ट हो चली थीं।

रसात्मक सौन्दर्य के समस्त मान अत्यन्त सजगतापूर्वक स्थिर कर लिए जाने के परिणामस्वरूप संवेदना के विभिन्न क्षणों की मनः स्थिति को किसी अछूती अथवा अनभोगी भावभूमि प्रदान कर सकना असम्भव प्रतीत होने लगा था। राजिम के ही समान अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों जैसे—मल्लार, सिरपुर, रतनपुर अथवा जांजगीर आदि से प्राप्त कतिपय अपवादों को छोड़कर शेष मूर्तियों की निर्माण-शैली तथा भावाभिव्यंजना में सर्वत्र समरूपता दिखाई देती है। और यही शैलीगत वैशिष्ट्य एवं भावाभिव्यंजना की सूक्ष्मता राजिम की मूर्तियों में भी समानरूप से विद्यमान है। अतः स्थूल दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि छत्रीसगढ़ क्षेत्रान्तर्गत मूर्तिकला में सुघट्यता के निर्देशन में एक प्रकार की यांत्रिकता आ गयी थी। परन्तु यहाँ का मूर्तिकार तक्षण का इतना धनी रहा है कि शैली, लक्षण, भावाभिव्यंजना आदि में उसकी अपनी कोई उल्लेखनीय विशिष्टता न होते हुए भी उसकी प्रत्येक कृति की अपनी मौलिकता है, उसमें स्पन्दित जीवन में सर्वत्र उल्लास और उमंग है, उसकी विविध मुद्राओं, चेष्टाओं तथा भावभंगिमाओं में अनिंद्य रस प्रवाहित है। इन्हीं सब कारणों से सहृदय दर्शक इन मूर्तियों में अभिव्यंजित भावों की सम्प्रेषणशीलता से सदैव अभिभूत रहा है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—इन उदाहरणों को ऐतिहासिक क्रमानुसार संयोजित कर पाना अत्यन्त दुष्कर है। अन्यान्य उपलब्ध साक्ष्यों को आधार मानकर सम्भावित क्रम निर्धारित कर सकने की सम्भावना को स्वीकार करते हुए यहाँ से प्राप्त मूर्तिकला के उदाहरणों की तिथि निर्धारित करने का प्रयास किया जायेगा।

प्राचीन दक्षिण-कोशल की मूर्तिकला का ऐतिहासिक क्रमानुसार विवेचन प्रस्तुत करने के लिए बिलासपुर जिले के मल्लार नामक ग्राम की उपलब्धियों को एक प्रकार से आधार रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्राप्त अभिलैखिक साक्ष्यों से विदित होता है कि कम से कम ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर १३ वीं शती ई० स० तक यहाँ मूर्तिकला के संरक्षण, संवर्धन का कार्य अबाधरूप से गतिशील रहा है। मल्लार से लगे हुए बुढ़ीखार नामक गाँव से प्रथम शताब्दी ई० स० की बनी विष्णु की लेख युक्त एक प्रतिमा प्राप्त हुई है। इस प्रतिमा पर प्रारम्भिक यक्ष-प्रतिमाओं का स्पष्ट प्रभाव है। इस उदाहरण के पश्चात् मूर्तिकला के इतिहास में एक लम्बी अवधि का अन्तराल दिखाई पड़ता है। परन्तु जब इस अन्तराल को पार कर हम आगे बढ़ते हैं तो असाधारण कला सम्पन्न मूर्तियों के रूप में नये युग की कला-संचेतना को मुखरित पाते हैं। दक्षिण कोशल की भूमि पर इस नये युग का प्रारम्भ सोमवंशी नरेशों के संरक्षण निर्देशन में हुआ। प्राप्त अभिलैखिक साक्ष्यों से विदित होता है कि सोमवंशियों के शासन काल में मल्लार का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से विशेष महत्त्व था। यही कारण है कि सोमकालीन मूर्तिकला के बहुसंख्यक उदाहरण यहाँ से प्राप्त होते हैं। रायपुर जिले का सिरपुर नामक वर्तमान ग्राम सोमवंशियों की राजधानी रही है। अतः तत्कालीन कलात्मक उपलब्धियों का इससे सीधा सम्बन्ध रहना स्वाभाविक ही था। मल्लार से प्राप्त बहुसंख्यक प्रतिमाओं

में तथा सिरपुर से प्राप्त प्रतिमाओं में न केवल शैली, अपितु रूपमण्डन की विशिष्टता तथा कला-अभिव्यक्ति के साधन के रूप में प्रयुक्त प्रस्तर विशेष में भी आश्चर्यजनक एकरूपता दिखाई देती है। यह सिद्ध ऐतिहासिक तथ्य है कि सोमवंशियों की शक्ति के पतन के साथ-साथ सिरपुर के ऐतिहासिक महत्त्व का भी ह्रास होता गया और जैसा कि प्रारम्भिक अध्याय में हम कह आये हैं, सम्भवतः विलासतुंग के नल वंश के पतन के बाद इसका महत्त्व दक्षिण कोशल के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के रंग-मंच से सदा-सदा के लिए समाप्त हो गया। राजिम के सांस्कृतिक उन्नयन में सोम-वंशियों का विशेष योगदान रहा होगा। यह तथ्य महाशिवतीवरदेव के राजिम तथा बलौदा ताम्रपत्रों की प्राप्ति से स्पष्ट हो जाता है। ज्ञात तथ्यों के आधार पर यह सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है कि सोमवंशियों के पतन का कारण नल नरेश विलासतुंग के वंश का अभ्युदय रहा है। डा० मिराशी के मत से सहमत होते हुए विद्वानों ने यह भी स्वीकार कर लिया है कि विलासतुंग के पूर्व पुरुषों ने सोमवंशियों को पराजित करने के पश्चात् सम्भवतः सिरपुर को ही अपनी राजधानी बनाया। इस नल वंश के नरेश विलासतुंग के शासन काल में राजिम का विशेष रूप से विकास हुआ होगा, यह तथ्य राजिम से प्राप्त उसके शिलालेख से स्पष्ट है। इतना ही नहीं इतिहासकारों का तो यहाँ तक कहना है कि विलासतुंग ने राजिम के प्रसिद्ध राजीव-लोचन मन्दिर के निर्माण के लिए सिरपुर के स्थपतियों तथा शिल्पियों को नियोजित किया, और उन लोगों ने सिरपुर के लक्ष्मण देऊल के अनुकरण पर इस मन्दिर का निर्माण किया। इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि सोमवंशियों द्वारा प्रतिष्ठापित कलारूप अपने समस्त वैशिष्ट्यों के साथ मल्लार और सिरपुर की ही भाँति राजिम में भी विकसित हुआ। हम पहले ही यह कह आये हैं कि सिरपुर से प्राप्त बहुसंख्यक उदाहरणों का सीधा सम्बन्ध सोमवंशियों के काल से रहा है। यहाँ से प्राप्त मूर्तियों की कतिपय सामान्य विशेषताएँ हैं, जिनका हम निम्न क्रम से उल्लेख कर सकते हैं—

(अ) अधिकांश मूर्तियाँ हल्के लाल पर भूरे रंग की चित्ती वाले बलुआ पत्थर से बनायी गयी हैं। काले अथवा लाला कणाश्मों का प्रयोग कम परिमाण में मिलता है।

(आ) ये मूर्तियाँ गुप्तकालीन मूर्तिकला से अपना निकट का सम्बन्ध ही नहीं रखतीं, अपितु उसी शैली के अनुकरण पर बनायी गयी हैं जैसे कि इन पर प्रयुक्त सीमित अलंकरण, अपारदर्शी वस्त्राभरण, रूपमण्डन में गोल अण्डाकार मुखा-कृति के रूपायन आदि से प्रकट होता है।

उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त जो मूर्तियाँ मल्लार से मिली है उन्हें हम सहज ही सोमवंशी शासकों के समय की निर्मिति स्वीकार कर सकते हैं। अतः राजिम से प्राप्त इस प्रकार के उदाहरणों का सम्बन्ध सोमवंशियों के राजत्वकाल से स्थापित करना स्वाभाविक प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि विलासतुंग के नलवंश के शासन काल में भी दक्षिण कोशल के शिल्पियों ने सोमवंशियों

के समय की परम्परा में मूर्तियों का निर्माण किया। अतः राजिम से प्राप्त कुछ उदाहरणों का सम्बन्ध इनसे भी स्थापित किया जा सकता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि सम्भवतः सोमवंशियों के समय लाल पर भूरे चित्ती वाले प्रस्तर के स्थान पर अपेक्षाकृत अधिक कठोर तथा टिकाऊ एवं एक रंग वाले प्रस्तर-खण्डों का प्रयोगमूर्ति निर्माण के लिए प्रारम्भ हो गया था। सिरपुर के शेषनाग की प्रतिमा को, जिसे लोग लक्ष्मण की प्रतिमा के नाम से संबोधित करते हैं, इस प्रकार के अभिनव प्रयोग की कृति माना जा सकता है। इस वर्ग के उदाहरण सिरपुर में बहुत ही कम मात्रा में देखने को मिलते हैं, जबकि राजिम में इसके उदाहरण अपेक्षाकृत अधिक संख्या में उपलब्ध हैं। अतः ऐसी स्थिति में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि सोमवंशी शासकों के प्रश्रय में मूर्तिकला में जिस गुण-धर्म की स्थापना हुई थी, उसका नलवंश के समय में विशेष परिष्कार किया गया और राजिम वह भूमि थी जहाँ युगीन अपेक्षाओं के अनुरूप कला को स्वरूप प्रदान किया गया।

यहाँ यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि डा० एम० जी० दीक्षित ने राजिम से प्राप्त कतिपय प्रतिमाओं को सोमवंशियों के पूर्ववर्ती शरभपुरियों के राजत्वकाल की निर्मितियाँ माना है।[1] परन्तु जिन मूर्तियों को वे इस काल की निर्मिति कहते हैं, उनमें तथा सोमवंशी कालीन मूर्तियों में शैली आदि की दृष्टि से तत्वतः कोई अन्तर दिखाई नहीं देता।

बिलासपुर जिले के रतनपुर नामक स्थान का सांस्कृतिक दृष्टि से वही महत्त्व रहा है जो सिरपुर का था। जिस तरह सिरपुर का विकास सोमवंशियों के द्वारा किया गया उसी तरह रतनपुर की श्री वृद्धि का श्रेय कलचुरियों को रहा है। फलतः रतनपुर से प्राप्त मूर्तिकला के उदाहरणों का सम्बन्ध कलचुरी शासकों के समय की कला-संचेतना से है। इस युग में भी मल्लार का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व वैसा ही बना रहा। अतएव कलचुरीकालीन कलात्मक वृत्तियों को यहाँ उसी अनुपात में अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त हुआ जैसा कि सोमवंशियों के समय में। कलचुरीकालीन मूर्ति-कला में हमें सोमवंशी काल की तुलना में कुछ स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ते हैं। इन आभ्यान्तर भेदों के कारण ही इन्हें अलग-अलग पहचाना जा सकता है। कलचुरीकालीन शिल्पी लाल भूरे चित्तीदार प्रस्तर के प्रयोग से विमुख होकर सर्वांग लाल, भूरा अथवा एक विशेष प्रकार के काले प्रस्तर का प्रयोग करना प्रारम्भ करता है। कला अभिव्यक्ति के लिए चयन की गयी सामग्री विशेष के अतिरिक्त कलचुरीकालीन मूर्तियों के रूपमण्डन में भी कुछ परिवर्तन स्वीकार किये गये हैं। परन्तु यह इतना सूक्ष्म है कि सामान्य दर्शक के लिए उनमें भेद कर पाना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए हम ओष्ठ की बनावट को ले सकते हैं। सोमवंशीकालीन मूर्तियों के ओष्ठ अपेक्षाकृत कम लम्बे हैं, जबकि कलचुरीकालीन मूर्तियों के ओष्ठ पूर्वापेक्षा लम्बे और पतले हो गये हैं। इसी तरह मुखमण्डल की

१. हेरीटेज ऑफ इण्डियन आर्ट सीरीज, भाग २ पृष्ठ २८

गोलाई और लम्बाई के मान में भी अन्तर मिलता है। सोमवंशीकालीन मूर्तियों के मुखमण्डल गोलाई लिए हुए हैं, जबकि कलचुरीकालीन मूर्तियों में वह कुछ लम्बा हो जाता है और रूपगढ़न में अण्डाकार रूप में बाह्य खाके का गढ़न स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। परन्तु ये अन्तर इन मूर्तियों में निर्देशित सौन्दर्य के शाश्वत मान, वस्त्राभरण की समरूपता, भावभंगिमा-निर्देशन में समान प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा आदि मानव मस्तिष्क को आकर्षित करने वाले मूलभूत तथ्यों के गहन आवरण में इस प्रकार से ढंक गये हैं कि दर्शक का ध्यान उधर जा ही नहीं पाता। परिणामतः वह समस्त निर्मिति को एक ही कला परम्परा की देन मानने लगता है। राजिम के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में कलचुरीवंशी शासन का भी सोमवंशियों की ही भाँति योगदान रहा है। यह ऐतिहासिक तथ्य जगपाल देव के राजीवलोचन मन्दिर शिलालेख से प्रमाणित है। पूर्व अध्याय में हमने यह स्वीकार करने पर बल दिया है कि वर्तमान परिस्थितियों में राजिम में स्थिर रामचन्द्र मन्दिर को ही जगपालदेव द्वारा निर्मित राम मन्दिर मानना समीचीन प्रतीत होता है। इसमें संशय नहीं कि राजिम से प्राप्त अनेक मूर्तियों का निर्माण कलचुरी काल में हुआ है। परन्तु यहाँ से प्राप्त उदाहरणों में शैली तथा भावों की एकस्तरीय प्रवाहमयता दिखाई पड़ती है। इन मूर्तियों के विषयगत भेदों को यदि छोड़ दिया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन सब का निर्माण एक शैली विशेष में निष्णात शिल्पियों के द्वारा किया गया है। इन शिल्पियों की कला-संचेतना की मूल प्रवृत्ति तथा उनकी अभिव्यक्ति में स्वीकृत प्रतीकात्मक मान में सर्वत्र एकात्मभाव दिखाई देता है। यह एक ऐसी विलक्षणता है जिसके कारण यहाँ की समस्त कृतियाँ एक ही शिल्पी द्वारा अलग-अलग भावभूमियों पर बनायी गयी प्रतीत होती हैं।

राजिम की मूर्तियों में कतिपय सामान्य विशेषताएँ हैं, जिनका यहाँ उल्लेख कर देना उचित होगा।

(अ) राजिम की अधिकांश मूर्तियों में त्रिभंग अंग-यष्टि के रूपायन द्वारा दैहिक सौन्दर्य में लयात्मकता, कोमलता और रसात्मकता की प्रतिष्ठा की गयी है।

(आ) कतिपय मूर्तियों में प्रयोजन विशेष की अभिव्यक्ति के लिए यदि एक भंग अथवा अतिभंग मुद्रा का आश्रय लिया गया है तो ऐसे उदाहरणों में भी आंगिक लयात्मकता, कोमलता, सुडौलता आदि को पूर्ण मनोयोग के साथ प्रस्तुत किया गया है, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिल्पियों ने गुप्त कलाकारों द्वारा प्रतिष्ठापित सौन्दर्य के समस्त प्रतिमानों को सहृदयता एवं कुशलता के साथ स्वीकार किया है, तथा इनकी अभिव्यक्ति में जिस निपुणता का परिचय दिया है उसके कारण इन मूर्तियों की मौलिकता एवं सजीवता में कोई दोष उत्पन्न नहीं होने पाया है।

(इ) यहाँ की अनेक प्रतिमाओं में दैहिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए रूपमण्डन, सुललित अंगविन्यास, अंगविक्षेप तथा भावभंगिमा निर्देशन में मूर्तिकारों ने आक्रामक भावभूमि का चयन किया है। पर इनके प्रस्तुतीकरण में शील और

संयम के शाश्वत नैतिक मूल्यों द्वारा उन्हें नियंत्रित रखते हुए इनके चतुर्दिक जिस आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण किया गया है, उसके कारण इनमें ऐन्द्रियता नहीं आने पायी है। इस तरह राजिम के कुशल शिल्पियों ने 'रूप पाप वृत्तये न' इस उक्ति को बड़ी उदात्तता एवं चतुराई के साथ प्रस्तुत किया है। इन प्रतिमाओं में शृंगारिकता और आध्यात्मिकता का मनोरम समन्वय है और यही इनकी चिरन्तन रसात्मकता का आधार है।

(ई) गुप्त कालीन तथा पूर्वमध्यकालीन परम्परा में हम यहाँ की प्रतिमाओं को सामान्यतः मात्र अधोवस्त्र धारण किये हुए पाते हैं। नारी प्रतिमाओं में कटि से ऊपर के अंग को ढँकने के लिए उत्तरीय अथवा स्तनोत्तरीय के रूप में प्रयुक्त किये जा सकने वाले वस्त्र पट्ट भी पाते हैं, जिनके छोर बड़े ही कलात्मक ढंग से लटकते हुए दिखाये गये हैं। अधोवस्त्रों के चुन्नट को भी बड़ी कलात्मकता के साथ प्रकट किया गया है। अधोवस्त्र का रूपायन इस ढंग से किया गया है कि ये अपारदर्शी होते हुए भी कायिक सौन्दर्य को बढ़ाने में सहायक हुए हैं।

(उ) यहाँ की मूर्तियों में विविध अलंकरणों का समायोजन गुप्त परम्परा तथा पूर्वमध्यकालीन परम्परा में है।

(ऊ) जिन मूर्तियों को यज्ञोपवीत धारण किये हुए दिखाया है, उन सब में इसका स्वरूप समान है। यज्ञोपवीत सामान्यतः पुष्प-गुण्ठित लड़ी के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। परन्तु वामन (रूप में) मूर्ति त्रिसूत्रात्मक यज्ञोपवीत है।

(ए) केश-विन्यास की शैली में प्रायः एकरूपता दिखाई पड़ती है। प्रायः सभी मूर्तियों में वलयित कुन्तल अर्थात् कुंचित या छोटी भिदुर मुद्रिकाओं में मुड़े हुए ललित-ललाम केश की आकर्षक अभिव्यक्ति है। केश-विन्यास की यह शैली इतनी लोकप्रिय रही है कि राजिम के शिल्पियों ने काल की सीमा को लाँघ कर इसे एक शाश्वत परम्परा का रूप दे दिया है। पुरुष मूर्तियों में केश रचना सामान्यतः दो प्रकार की दिखाई देती है—(१) वलयित कुन्तल या तो स्कन्ध पर्यन्त लटकते हुए दिखाये गये हैं या उन्हें सिर के ऊपर गुम्फित जूड़े का आकार दे दिया गया है। इस जूड़े की उष्णीश परम्परा में बुद्ध की प्रसिद्ध प्रतिमा लक्षण का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

नारी प्रतिमाओं में सामान्यतः वलयित केश गुम्फों को सिर के ऊपर जूड़े के रूप में बाँधा गया है। जूड़े को लपेटने के लिए कहीं पर मणि-मुक्ता की लड़ियों का प्रयोग है तो कहीं पुष्प गुम्फित लड़ी से उसे सहेजा गया गया है। किसी-किसी उदाहरण में फीतों के एकहरी अथवा दोहरी लपेट द्वारा आबद्ध बताया गया है।

कुछ उदाहरणों में वलयित केश रचना के स्थान पर घुँघराले लहरदार केश हैं। परन्तु ऐसे उदाहरणों में जूड़ों का शिथिल बंध सौन्दर्य की आन्तरिक अभिव्यक्ति में सहायक हुआ है। इस वर्ग के कुछ उदाहरणों में केशपट्ट के द्वारा उन्हें सुनियोजित रखने का उपक्रम भी दिखाया गया है।

राजिम की मूर्तियों का सामान्य परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक है कि उन्हें हम विषयों के आधार पर विभक्त करें। इस दृष्टि से यहाँ की मूर्तियों को निम्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

(अ) देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ।
(आ) अनाहत सौदर्य के प्रतीक शालभंजिका, कन्या तथा नायिका की मूर्तियाँ
(इ) मिथुन मूर्तियाँ।
(ई) कल्पलता अभिकल्प।
(उ) अन्य।

(अ) देवी-देवताओं की मूर्तियाँ :

इस वर्ग के उदाहरणों को हम सम्प्रदाय भेद के आधार पर तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।—(१) जैन धर्म से सम्बन्धित प्रतिमा, (२) बौद्ध धर्म से सम्बन्धित प्रतिमा एवं (३) ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित प्रतिमा।

(१) जैन धर्म से सम्बन्धित प्रतिमा[1]—इस वर्ग का मात्र एक ही उदाहरण सोमेश्वर महादेव मन्दिर के अहाते में संरक्षित है। यह पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। कुंडलित नाग पर पद्मासन में बैठी हुई मुद्रा में इनका रूपायण हुआ है तथा इनके सिर पर सप्त-फण वाले नाग की छत्र रूप में छाया है। अधोभाग पर मध्य में चक्र और इसके दोनों पार्श्वों में परस्पर एक-दूसरे की ओर पीठ किये सिंह की मूर्तियाँ हैं। तीर्थंकर के दोनों पार्श्वों में क्रमशः एक-एक परिचारक की प्रतिमाएँ कोरी गयी हैं। ऊपर हाथ में मालाएँ धारण किये हुए गगनचारी गंधर्वों की मूर्तियाँ बनायी गयी हैं।

(२) बौद्ध धर्म से सम्बन्धित प्रतिमा[2]—राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के द्वार प्रकोष्ठ के अन्तः भाग में एक ओर पद्मासन में बैठे ध्यानमग्न एक पुरुष की मूर्ति स्थापित है। क्षेत्रीय जनता इसे राजा जगतपाल की मूर्ति मानती है, परन्तु इस प्रतिमा के निर्माण में बुद्ध प्रतिमाओं का इतना गहरा अनुकरण है कि विद्वानों ने इसे बुद्ध की मूर्ति मान लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रतिमा बुद्ध मूर्ति की ही भाँति पद्मासन में बैठी हुई है तथा अंग के उर्ध्वभाग को ढँकने के लिए उत्तरीय का अंकन इस ढंग से किया गया है कि वामस्कन्ध खुला हुआ है तथा उसका किनारा दक्षिण स्कन्ध से होकर बाँये काँख के नीचे से लपेटा गया है। हम जानते हैं कि बुद्ध प्रतिमाओं में भी उत्तरीय को इसी ढंग से शरीर से लिपटे हुए दर्शाने की परम्परा थी। इस मूर्ति के वलयित केशों को उष्णीश की परम्परा में सिर के ऊपर बाँधा गया है। कानों का अंकन भी बुद्ध की प्रतिमा के अनुकरण पर है। इन समस्त समानताओं के कारण प्रथम दर्शन में यह बुद्ध प्रतिमा प्रतीत होती है। पर वस्तुतः इसमें बुद्ध मूर्ति के अन्य अनिवार्य लक्षणों का अभाव है। उदाहरणार्थ इस प्रतिमा में ऊर्ण नहीं दिखाया गया

---

१. चित्रफलक २०, क्रमांक १.
२. चित्रफलक २०, क्रमांक २.

है। पदतल अथवा हथेली पर चक्र चिह्न नहीं है। इन सामान्य लक्षणों का अभाव इस मूर्ति की समता बुद्ध से स्थापित करने में सन्देह उत्पन्न कर देता है। इसके विपरीत इस मूर्ति के दाहिने हाथ में अक्षमाला दिखाया गया है, जिससे इसका ब्राह्मण-धर्म से सम्बन्ध प्रमाणित होता है। परन्तु यह अक्षमाला सीमेंट द्वारा बनायी गयी जान पड़ती है। अतः इसे वर्तमान परिवर्धन मानना अनुचित न होगा। उपलब्ध समस्त तथ्यों का सम्यक् रूप से विचार करने पर इसे भगवान बुद्ध की भू-स्पर्श मुद्रा की मूर्ति मानना समीचीन होगा।

(३) **ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित मूर्तियाँ**—सम्प्रदाय-भेद के इस वर्ग के उदाहरणों को पुनः शैव तथा वैष्णव इन दो मुख्य भेदों में विभक्त कर सकते हैं।

शैव प्रतिमाएँ :

शिव लिंग—लिंग के रूप में उपासना के निमित्त शिव की मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। प्राचीन भारतीय प्रतिमा लक्षण से सम्बन्धित ग्रन्थों में तथा तंत्र साहित्य में शिवलिंग का जो विशिष्ट स्वरूप बताया गया है, उस प्रकार की कुछ प्रतिमाएँ राजिम से प्राप्त हुई हैं। विशिष्ट लक्षणों से युक्त लिंग में अधो भाग चतुरस्र, मध्य भाग अष्टास्र तथा ऊपर का भाग गोल होता था। चतुरस्र भाग को ब्रह्मा का रूप, मध्य को विष्णु का, तथा ऊपर वाले भाग को शिव का रूप माना गया है (एक मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वरः)। इस तरह ब्रह्मा, विष्णु और शिव के समाहार से लिंग ओंकार का प्रतीक माना जाता था। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त एक प्रतिमा राजेश्वर मन्दिर के महामण्डप में रखी हुई है तथा दूसरी प्रतिमा मौराहा तालाब के वर्तमान शिव मन्दिर में प्रस्थापित है। तेलिन मन्दिर के गर्भगृह की प्रतिमा भी इसी वर्ग की है। कुछ प्रतिमाएँ अन्य तालाबों के पार पर रखी हुई हैं। महानदी के दूसरे तट पर स्थित पारागाँव के प्राचीन टीले के निकट भी इस प्रकार की एक प्रतिमा है। वर्तमान चाँपाझर ग्राम, जो प्राचीन समय में चम्पारण्य कहलाता था, तथा स्वामी वल्लभाचार्य का जन्म स्थान होने के कारण वल्लभ सम्प्रदाय वालों का जो एक प्रमुख तीर्थ है, वहाँ चम्पेश्वर महादेव के नाम से प्रसिद्ध शिव की लिंग रूप में मूर्ति है। हम पूर्व पीठिका में यह कह आये हैं कि चम्पारण्य का राजिम के धार्मिक जीवन से अत्यन्त ही निकट का सम्बन्ध है। इस लिंग में शिव, पार्वती और गणेश की मूर्तियाँ उभार में बनायी गयी हैं। इस प्रकार का अन्य उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता। शिवोपनिषत् में लिंग के अधोभाग में स्कन्द, मध्य में देवी और ऊपर रुद्र का निवास बताया गया है (अधोभागे स्थितः स्कन्दः स्थिता देवी च मध्यतः। ऊर्ध्वरुद्रः.........॥ अध्याय २, श्लोक ५)॥ सम्भवतः इस उदाहरण में स्कन्द के स्थान पर भूलवश गणेश की मूर्ति स्थापित कर दी गयी है।

मानुषी रूप में शिव :

बद्रीनारायण मन्दिर के प्रवेश द्वार की अन्तः भित्ति पर विविध रूपों में शिव

की मूर्तियाँ उभार में बनायी गयी हैं। चित्र शैली में बनायी गयी इन प्रतिमाओं का मूर्ति-कला के साथ-साथ दैव विज्ञान की दृष्टि से भी विशेष महत्व है।

(१) **अर्धनारीश्वर शिव**—प्रवेश द्वार के दाहिने बाजू की अन्तः-भित्ति के अधोभाग पर अर्धनारीश्वर रूप में शिव की चतुर्भुजी प्रतिमा है। इस मूर्ति का दक्षिणार्धभाग शिव रूप है जबकि वामार्धभाग को पार्वती रूप में अभिव्यक्त किया गया है। शिवांग अर्ध चन्द्र युक्त जटामुकुट से अलंकृत है परन्तु पार्वती के ललित कुन्तल स्कन्ध-पर्यन्त लटक रहे हैं। शिव को एक हाथ में त्रिशूल तथा दूसरे में नाग फण पकड़े बताया गया है। पार्वती के हाथ में दर्पण है तथा उनका दूसरा हाथ उत्तरीय के छोर को थामे हुए दिखाया गया है। मातृत्व के परिचायक रूप में पार्वती के स्तन को उन्नत एवं पुष्ट बताया गया है। इस मूर्ति के दाहिने पार्श्व में देवी का वाहन सिंह उपस्थित है। वाम पार्श्व में नारी परिचारिका खड़ी है। इस मूर्ति के गढ़न में आत्मिक सौन्दर्य के उदात्त भावों का सुन्दर निर्देशन हुआ है। अर्धनारीश्वर मूर्ति भारतीय परम्परा में सृष्टि के विकास क्रम में पुरुष और प्रकृति के परस्पर सम्पर्क में आने की अनिवार्यता का प्रतीक है (शिव-शक्तिसमायोगाद् जायते सृष्टि-कल्पना)। लिंग पुराण में लिंग और वेदी के एकस्थरूप को अर्धनारीश्वर कहा गया है।[1] लिंग को पुरुष तथा योनि (वेदी) को प्रकृति कहा गया है।[2] इस तरह अर्धनारीश्वर रूप भारतीय सृष्टि विद्या का प्रतीक है, साथ ही यह साधकों के रसानन्द समाधियोग के रहस्यों का उद्घाटक भी है।

(२) **नटराज शिव**—पूर्वोक्त मूर्ति के ऊपर वाले दृश्य में शिव नटराज रूप में दर्शाये गये हैं। पूर्ण उत्फुल्ल कमल पुष्प पर नृत्य की लयात्मक भंगिमा को अभिव्यक्त करते पद विक्षेप, कटि के नीचे झूलता नाग का कच्छा बन्ध, दोनों ओर के एक-एक हाथ और उसकी अंगुलियों द्वारा इंगित विशिष्ट मुद्रा, तथा अति भंग रूप में निर्देशित अंग-यष्टि द्वारा शिव को नृत्य में तल्लीन निरूपित करने का सफल उपक्रम अत्यन्त भावप्रवणता के साथ प्रस्तुत है। उन्हें त्रिशूल, डमरू तथा नाग धारण किये हुए बताया गया है। उनका एक हाथ पार्श्व में खड़ी पार्वती के स्कन्ध पर है। ऊपर के दोनों हाथों से उत्तरीय को थामे हुए हैं। नृत्य की तीव्र गति को प्रकट करने के लिए शिल्पियों ने उत्तरीय को सिर के ऊपर उड़ते हुए दिखाया है। इस मूर्ति के दाहिने पार्श्व में शिव का वाहन नन्दी है। बाँये पार्श्व में मृदंग वादन करते गणेश की मूर्ति है। भारतीय वाङ्मय में शिव को प्रौढ़नर्तनलम्पट, महानटनलम्पट आदि कहा गया है। शिव महिम्नः स्तोत्रम् में उनके नृत्य का हेतु जगत की रक्षा करना "(जगद्रक्षायै त्वं नटसि)[3] बताया गया है। डा० जनार्दन मिश्र[4] ने नटराज सम्बन्धी धारणा

१. लिङ्गवेदी-समायोगादर्धनारीश्वरो भवेत्।। लिंगपुराण ९९-८.
२. लिंगं पुरुष इत्युक्तो योनिस्तु प्रकृतिः स्मृता ॥
प्राधानिक रहस्य की टीका में भुवनेश्वरी संहिता से उद्धत.
३. शिवमहिम्नः स्तोत्रम्, श्लोक १६.
४. भारतीय प्रतीक विद्या पृ० ८३,

की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जगत का आदिकारण विभु की इच्छा और क्रिया ही उसका निरन्तर नृत्य है। शंकर का नृत्य ही सृष्टि विधान है और इसकी निवृत्ति प्रलय है।

(३) **योगेश्वर शिव**—तीसरे दृश्य में परम योगी रूप में ऊँची वेदी पर बैठे हुए शिव की द्विभुजी प्रतिमा है। वे पद्मासन में बैठे हुए हैं। इनके दोनों हाथों का अग्र भाग टूट गया है, फलतः हाथ की विशिष्ट मुद्रा का निर्देश कर पाना असम्भव है। मुखमुद्रा प्रशान्त, गंभीर और अनंतानन्द के भावों से आपूरित है। इनकी बाँयी भुजा में एक लकुट दबा हुआ दिखाई देता है। इस आधार पर इसे लकुलीश रूप में शिव माना जा सकता है। परन्तु यह समीकरण मात्र एक सम्भावना ही है।

(४) प्रवेश द्वार के बाँये बाजू की अन्तः भित्ति पर भी दृश्य रूप में तथा चित्र शैली में शिव से सम्बन्धित मूर्तियाँ उत्खचित हैं। इस क्रम की पहली मूर्ति में शिव को दिगम्बर रूप में प्रकट किया गया है। इन्हें एक हाथ में त्रिशूल, दूसरे में निधिकलश तथा तीसरे में सप्तफण नाग पकड़े हुए बताया गया है। चौथा हाथ वरद मुद्रा में है। सिर पर अर्धचन्द्रयुक्त जटा मुकुट, गले में सर्प-हार तथा वाम-स्कन्ध पर से प्रवाहित यज्ञोपवीत है। इनके दोनों पार्श्वों में प्रणाम करते भक्तों की पंक्ति है। सम्भवतः यह क्षेत्रपाल शिव की प्रतिमा है।

(५) दूसरे दृश्य में गजासुर वध का चित्रण है। इसमें चतुर्भुजी शिव का दाहिना पैर भूमि पर है पर बांयां पैर घुटने के पास से थोड़ा आगे की ओर झुका हुआ होने से द्वन्द्व की भावभूमि को प्रकट करने में सफल है। इस मुद्रा विशेष के माध्यम से आन्तरिक शक्ति तथा दृढ़ता को प्रकट किया गया है। ये एक हाथ में त्रिशूल दूसरे में दण्ड के समान एक आयुध तथा शेष दो हाथों पर गजासुर को आकाश पर अधर उठाये हुए बताये गये हैं। पूर्व प्रतिमाओं की ही भाँति शिरोभूषा जटामुकुट है तथा ये यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं।

(६) प्रवेश-द्वार के इस अन्तः भित्ति पर सबसे ऊपरी भाग पर शिव का त्रिमूर्ति रूप में अंकन है। चार सिंहों की पीठ पर आधारित पद्मपीठ पर शिव पद्मासन में बैठे हुए दिखाये गये हैं। इनके चार हाथों में से एक हाथ में सर्प लिपटा त्रिशूल, दूसरे में चक्र है। तीसरा हाथ बाँयें घुटने पर अवलम्बित है तथा इस पर धारण कराया गया आयुध भग्न हो चला है। चौथा हाथ खंडित हो गया है। बीच का मुख जटा मुकुट धारण किये हुए त्रिनेत्र शिव का है। दोनों पार्श्वों की मुखाकृतियाँ धूमिल होने से पहचानी नहीं जा रही हैं। पर इनमें से एक का ब्रह्म और दूसरे का विष्णु मुख होना अनुमानित तथ्य है।

उपर्युक्त छः मूर्तियों के अतिरिक्त शिव से सम्बन्धित और कोई प्रतिमा राजिम से प्राप्त नहीं हुई है। परन्तु शिव के परिवार देवताओं में से निम्न की मूर्तियाँ उपलब्ध हैं।

(७) **गणेश**—गणेश की कुल दो मूर्तियाँ ही राजिम में हैं। इनमें से एक मूर्ति राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के बाह्य द्वार प्रकोष्ठ में रखी हुई है तथा दूसरी

मूर्ति रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप की पार्श्वभित्ति के भित्ति स्तम्भ पर उभार में बनायी गयी है।

राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के बाह्य द्वार प्रकोष्ठ में रखी प्रतिमा नटेश गणेश की है। इनके सिर पर शिव मूर्ति की परम्परा में जटामुकुट है। नाभि के नीचे कक्षाबन्ध के रूप में सर्प को लपेटे हुए दिखाया गया है। नृत्य की विशिष्ट मुद्रा को अभिव्यक्त करते हुए पैरों का विक्षेप पड़े चातुर्य के साथ प्रकट किया गया है।

रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप के भित्तिस्तम्भ पर उभार में बनायी गयी गणेश की प्रतिमा है। यह अष्टभुजी मूर्ति है जिसके हाथ में पुस्तक, परशु, और अक्षमाला स्पष्टतः दिखाई देता है। शेष आयुधों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्पूर्ण प्रतिमा का बाह्य कलेवर सिन्दूर के गहरे और मोटे पर्त से ढँका हुआ है। गणेश को स्थानक मुद्रा में प्रकट किया गया है तथा इन्हें कमलदल अलंकरण से अलंकृत प्रभामण्डल से युक्त निरूपित किया गया है। सिर के ऊपर छत्र है। मूर्ति के ऊपर गगनचारी गंधर्वों का आलेखन है।

(८) **कार्तिकेय**—कार्तिकेय की केवल एक ही मूर्ति उपलब्ध है। यह कुलेश्वर महादेव के मन्दिर के महामण्डप की पार्श्वभित्ति से सन्नद्ध एक भित्तिस्तम्भ पर कोर कर बनायी गयी है। इस मूर्ति में कार्तिकेय अपने वाहन-मयूर पीठ पर सुखासन में बैठे हुए बताये गये हैं। यह एक द्विभुजी प्रतिमा है, जिसका दाहिना हाथ टूट गया है। बाँया हाथ घुटने पर अवलम्बित है। जटामुकुट, भुजबंद, कंगन, कंठहार, त्रिलड़ी वाला मुक्ताहार और यज्ञोपवीत से मूर्ति शृंगारित है। इस मूर्ति का समस्त पृष्ठ प्रदेश मयूरपुच्छ द्वारा भरा हुआ है। पेडस्टल (पादपीठ) पर प्रमथ की मूर्तियाँ हैं।[1]

(९) **दुर्गा**—राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप की दक्षिणी पार्श्वभित्ति के भित्तिस्तम्भ पर दुर्गा की अष्टभुजी प्रतिमा स्थानक मुद्रा में पूर्ण उभार में बनायी गयी है। इस मूर्ति में देवी के वाहन सिंह को पृष्ठ में दर्शाया गया है। मूर्ति के खंडित होने से अनेक तथ्य समाप्त हो गये हैं।

(१०) **महिषासुर-मर्दिनी**—महिषासुर मर्दिनी की दो मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। इनमें से एक मूर्ति कुलेश्वर महादेव मन्दिर के महामण्डप की पार्श्वभित्ति के भित्तिस्तम्भ पर बनायी गयी है तथा दूसरी मूर्ति वर्तमान में भूतेश्वर महादेव मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेशद्वार के पार्श्व में भित्ति पर जड़ी हुई है।

कुलेश्वर महादेव मन्दिर में संरक्षित प्रतिमा अष्टभुजी है। महिषासुर को बध करती देवी की आक्रामक मुद्रा अत्यन्त ही भव्य है। सम्मुखाभिमुख देवी का बाँया पैर पूर्ण विकसित कमल पर है तथा दाहिना पैर महिष के स्कन्ध पर है। देवी दो हाथों से त्रिशूल द्वारा महिष का सिरच्छेद करती हुई दिखाई गयी हैं। उनका एक हाथ असुर के गले को दबोचने के उपक्रम में लगा दर्शित है। शेष हाथों में वे क्रमशः

१. चित्रफलक २१, क्रमांक १

कृपाण, ढाल, नरमुंड और कपाल ली हुई हैं। आठवाँ हाथ भग्न हो चला है। असुर का समस्त शरीर पशुरूप में है, परन्तु कटे हुए गले से निकलते उसके मानवी मुख का रूपायण है तथा उसके महिष मुख को गर्दन के पास लटकते हुए दिखाया गया है। पृष्ठ की ओर से देवी के वाहन सिंह को महिष पर आक्रमण करते बताया गया है। आक्रामक मुद्रा में सिंह का रूपायण स्वाभाविकता और अतीव सजीवता लिये हुए है। अतिभंग मुद्रा में देवी की प्रतिमा को रूपायित कर शिल्पी ने क्रिया की तीव्रता को प्रकट किया है। महिष के पशु शरीर का गढ़न स्वाभाविकता के साथ-साथ आन्तरिक शक्ति तथा दर्प की भावना को प्रस्तुत करने में सफल प्रतीत होता है।

इस प्रकार की दूसरी प्रतिमा भूतेश्वर महादेव मन्दिर में है। मूल प्रतिमा अपने लाक्षणिक गुणों तथा भावाभिव्यक्ति आदि में पूर्व उदाहरण की ही भाँति है, परन्तु इस उदाहरण में देवी के मुख मण्डल पर जिस कान्ति और ओज की विद्यमानता दिखाई पड़ती है, वह अप्रतिम है। मुख मण्डल ऐश्वर्य, बल, तेज आदि गुणों से प्रभासित है। महिष और देवी के वाहन सिंह के पशुरूप को अभिव्यक्त करने में यथार्थ को जिस ढंग से शिल्पी ने मूर्तरूप प्रदान किया है, वह चित्ताकर्षक है। इस मूर्ति के निरूपण में पूर्व उदाहरण के कुछ तथ्यों को सम्भवतः किसी कारण विशेष से छोड़ दिया गया है, तथा इसमें कतिपय नये तथ्यों को समाविष्ट कर लिया गया है, उदाहरणार्थ—इस मूर्ति में देवी का बाँया पैर सिंह की पीठ पर ही अवलम्बित बताया गया है तथा देवी के पार्श्व में एक नारी परिचारिका की मूर्ति है। पृष्ठ में एक विशाल वृक्ष बताया गया है जिसकी शाखा को दोनों हाथों से पकड़ कर झूलती हुई डंकिनी की मूर्ति है। अधोभाग पर देवी और महिषासुर के मध्य हो रहे संघर्ष का दृश्य रूपायित है। यहाँ देवी दो भुजाओं वाली है। उसके एक हाथ में खड्ग और दूसरे में ढाल है। महिषासुर का पूरा शरीर मानवी रूप में है तथा मुख महिष पशु रूप में है। दोनों को परस्पर एक-दूसरे की ओर अभिमुख तथा एक-दूसरे पर प्रहार करते बताया गया है।[1]

(११) **अज्ञात देवी-प्रतिमा (सम्भवतः उत्पलाक्षी के रूप में देवी)**—कुलेश्वर महादेव मन्दिर के महामण्डप के एक भित्तिस्तम्भ के रूप में जड़ी हुई एक देवी की मानवाकार प्रतिमा है, जो मूलतः पूजा के लिए कभी प्रयुक्त होती रही होगी। यह देवी की चतुर्भुजी रूप में तथा स्थानक मुद्रा में बनायी गयी प्रतिमा है। वर्तमान में चारों हाथों का मूलस्वरूप लुप्त हो चला है। साथ ही उसके आयुधों का रूप भी नष्ट हो गया है। देवी पूर्ण उत्फुल कमल पर खड़ी हुई हैं। पृष्ठ में उनका वाहन सिंह दर्शाया गया है। इनके दाहिने बाजू में गंगा और बाँये बाजू में यमुना की मूर्तियाँ हैं। मूर्ति का समस्त पृष्ठ भाग कमलदल के अलंकरण से भरा हुआ है। बीच-बीच में नाग, कूर्म तथा कमर की आकृतियाँ हैं। सिरदल पर नवग्रह की मूर्तियाँ थीं, जिनमें से केवल पाँच शेष रह गयी हैं।[2]

१. चित्रफलक २१, क्रमांक २.
२. चित्रफलक २१, क्रमांक ३.

ऐसी ही एक दूसरी प्रतिमा भूतेश्वर मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेश द्वार के पार्श्व में भित्ति पर जड़ी हुई है। परन्तु इस प्रतिमा में गंगा-यमुना तथा नवग्रहों का आलेखन नहीं है।

सम्भवतः यह उत्पलेश्वर शिव की शक्ति रूपा देवी उत्पलाक्षी की सगुण अभिव्यक्ति है।

(आ) वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित प्रतिमाएँ :

(१) विष्णु के दशावतार से सम्बन्धित प्रतिमाएँ—रामचन्द्र मन्दिर के गर्भ-गृह के प्रवेश-द्वार के एक पाख पर विष्णु के दशावतारों का आलेखन है। सबसे अधो-भाग पर अर्धमानवी तथा अर्धपशुरूप में वाराह की प्रतिमा है। पश्चात्-मत्स्य, और कूर्म का यथार्थ अंकन है। इसके ऊपर पूर्ण पशुरूप में वाराह का अंकन है। उपरान्त अर्ध-मानुषी तथा अर्ध पशु रूप में नृसिंह की मूर्ति है। इसके ऊपर क्रमशः परशुराम, राम, कल्कि और कृष्ण रूप में अवतारों का आलेखन है। सबसे ऊपरी भाग पर दशम अवतार के रूप में जगन्नाथ के प्रसिद्ध श्रीविग्रह का आलेखन है जो कि ज्ञात परम्परा के विपरीत है।

वामन मन्दिर के प्रवेश द्वार की अन्तः भित्ति पर भी दशावतारों की मूर्तियाँ बनाई गयी हैं। दाहिनी अन्तः भिति को पाँच भागों में विभक्त कर दिया गया है तथा इनमें क्रमशः मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह और वामन की मूर्तियाँ अध्युच्चित्र शैली में बनायी गयी हैं। इसी तरह वामभित्ति पर परशुराम, रामदाशरथि, कृष्ण वासुदेव, बुद्ध और अश्वारूढ़ कल्कि की मूर्तियाँ हैं।

(२) विष्णु मूर्ति—चतुर्भुजी विष्णु की दो स्वतन्त्र प्रतिमाएँ यहाँ सुरक्षित हैं। इनमें से एक राजीवलोचन मन्दिर के गर्भगृह में स्थापित है।[1] यह काले पत्थर से बनायी गयी प्रतिमा है, जिस पर सतत घर्षण के कारण अतीव चमक आ गयी है। राजीवलोचन के नाम से प्रख्यात यह प्रतिमा हाथ में शंख, चक्र, गदा और पद्म ली हुई है। इसमें शंख का आलेखन दक्षिणावर्त रूप में है। प्रतिमा-प्रभामण्डल युक्त है तथा किरीट-मुकुट, वैजयन्तीमाला, केयूर कुंडल, भुजबंध एवं कंकण से आभूषित है। इसके दोनों पार्श्वों में एक-एक नारी मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों को क्रमशः श्री और धरणी माना जा सकता है। इनके हाथों में क्रमशः सोमकलश और चरुपात्र हैं। समस्त लक्षणों पर विचार करते हुए इसे यज्ञ पुरुष विष्णु मान सकते हैं।

दूसरी प्रतिमा राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार से बाहर राजेश्वर, दानेश्वर और तेलिन मन्दिरों को सुरक्षित बनाये रखने के लिए बनाये गये वर्तमान प्राकार की दक्षिणी भित्ति पर जड़ी हुई है। यह प्रतिमा भी स्थानक मुद्रा में है तथा इसके चारों हाथों में क्रमशः शंख, चक्र, गदा और पद्म है। इस उदाहरण में शंख का आलेखन वामवर्त रूप में है। यह प्रतिमा शास्त्रों में निरूपित समस्त लक्षणों से युक्त है।[2]

---

१. चित्रफलक २२, क्रमांक १

२. चित्रफलक २२, क्रमांक २.

(३) **अनन्तशायी विष्णु**—राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार में प्रवेश के लिए बनाये गये त्रिशाखा प्रवेश-द्वार के सिरदल के मध्य में ललाट बिम्ब पर अनन्तशायी विष्णु की मूर्ति है। इसमें भगवान विष्णु को शेषशैय्या पर पूर्वोत्थिक कायमुद्रा में योगनिद्रा में लीन बताया गया है। इनकी नाभि से निसृत कमल पर ब्रह्मा को बैठे हुए दिखाया गया है। इनके एक हाथ में चक्र है तथा दूसरा हाथ वरद मुद्रा में है। लक्ष्मी चरण संवहन कर रही हैं। भगवान के सिर के ऊपर सप्त फण नाग की छाया है।[1]

अनन्तशायी विष्णु की दूसरी मूर्ति वामन मन्दिर के प्रवेश द्वार के सिरदल पर जड़ी हुई है। यह सम्भवतः वही प्रतिमा है जिसे बेगलर महोदय ने राजीवलोचन मन्दिर के अहाते में पड़ा हुआ देखा था।

(४) **नृवाराह मूर्ति**—विष्णु तथा उसके विभिन्न अवतारों से सम्बन्धित जितनी प्रतिमाएँ राजिम से प्राप्त हुई हैं, उनमें वाराह मूर्तियों की संख्या सर्वाधिक है। यद्यपि वर्तमान में इनके अधिकांश उदाहरण रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप की पार्श्व भित्तियों के भित्तिस्तम्भों पर तथा राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप की पार्श्वभित्ति के भित्तिस्तम्भों पर उभार में बनाये गये हैं, पर इन उदाहरणों का सम्यक् अध्ययन यह प्रमाणित कर देता है कि मूलतः इन प्रतिमाओं में से कुछेक का सम्बन्ध अन्य मन्दिरों से रहा होगा तथा इन वास्तु रूपों के नष्ट हो जाने के कारण कालान्तर में ये मूर्तियाँ संक्षरण के उद्देश्य से इन मन्दिरों में लाकर जड़ दी गयी हैं। राजीवलोचन के दक्षिणी-पश्चिमी कोने पर बने लघु देवलिका में वाराह की एक अन्य प्रतिमा प्रतिष्ठित है। सब मिलाकर राजिम से वाराह की कुल चार प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें से दो रामचन्द्र मन्दिर में हैं, तीसरी राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के भित्ति स्तम्भ पर उभार में बनायी गयी है। चौथी मूर्ति वाराह मन्दिर में प्रतिष्ठित है।[2]

रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप की दक्षिणी पार्श्व-भित्ति पर के भित्ति-स्तम्भ पर अष्टभुजी वाराह की प्रतिमा इस वर्ग के सर्वांग सुरक्षित उदाहरणों में से एक है।[3] इसमें अधोभाग पर कुंडली के तीन लपेट के ऊपर शिथिल वज्रासन में चतुर्भुजी शेषनाग की मानवी मूर्ति है। इसके सिर के ऊपर सात फणों का छत्र है। शेषनाग के दो हाथ इस प्रकार से गढ़े गये हैं कि एक ऊपर की ओर उठा हुआ है तथा दूसरा नीचे की ओर है। इन दोनों हाथों की खुली हथेलियों पर भगवान् वाराह के दोनों पैर अवस्थित हैं। इनकी अंग यष्टि का गढ़न दक्षिणार्धघुमाव के साथ सम्मुखाभिमुख रूप में है, जबकि मुखमण्डल वामाभिमुख है। दाहिना पैर घुटने के पास से मुड़ा हुआ है तथा भार वहन में दृढ़ता के भावों को स्वाभाविकता प्रदान करता प्रतीत होता

१. चित्रफलक १०, क्रमांक १.

२. चित्रफलक २३, क्रमांक १.

३. चित्रफलक २३, क्रमांक २.

है। इस भाव विशेष को और अधिक स्वाभाविक रूप देने के लिए उनके एक हाथ को मुड़े हुए घुटने पर दृढ़ता के साथ स्थिर बताया गया है। सामने के दो हाथ परस्पर आबद्ध अंगुलियों से युक्त वक्ष के पास हैं तथा इनमें से एक हाथ (वाम हस्त) की कुहनी ऊपर की ओर उठी हुई है, जिस पर नारी रूप में पृथ्वी को बैठे हुए दिखाया गया है। शेष हाथों में से एक में चक्र तथा दूसरे में गदा है। शेष हाथों के आयुध नष्ट हो गये हैं पर इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इनमें से एक में पद्म और दूसरे में शंख अवश्य रहा होगा। मुख का रूपायण पशु रूप में है परन्तु इसके वलयित कुन्तल स्कन्ध पर्यन्त लटकते हुए दिखाये गये हैं। इस केश रचना से मूर्ति की सुन्दरता अद्वितीय हो गयी है। इस मूर्ति में दूसरी विशेषता यह है कि चतुर्भुजी शेषनाग के एक हाथ में हल बताया गया है। इस तरह शेषनाग का बलराम रूप में अवतार की पौराणिक मान्यता को सांकेतिक रूप से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि वाराह मन्दिर की वाराह प्रतिमा में तथा राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के भित्ति स्तम्भ पर की वाराह प्रतिमा में चतुर्भुजी शेष के दो हाथों में क्रमशः हल और धनुष का आलेखन है। अतः इस उदाहरण में भी शेषनाग के एक हाथ में धनुष रहा होगा, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। जिस तरह बलराम को शेषनाग का अवतार माना गया है, उसी तरह लक्ष्मण को भी शेषनाग का अवतार कहा गया है। धनुष के माध्यम से लक्ष्मण के अवतार सम्बन्धी विश्वास को प्रकट किया गया है।

रामचन्द्र मन्दिर की दूसरी प्रतिमा खण्डित है, परन्तु उसका जो भी अंश शेष है उसे देखकर यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि इस मूर्ति का निर्माण पूर्वोक्त मूर्ति के समस्त लक्षणों से युक्त रूप में किया गया होगा। राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के भित्तिस्तम्भ पर की वाराह मूर्ति भी पूर्वोक्त उदाहरण के पार्थिव एवं अपार्थिव लक्षणों से संयुक्त है।

वाराह मन्दिर की प्रतिमा यद्यपि उपरोक्त तीनों उदाहरणों से विशालता की दृष्टि से छोटी है, पर अपनी भव्यता, दैहिक सौन्दर्य एवं आध्यात्मिक भावाभिव्यंजना में इस वर्ग की श्रेष्ठतम कृति है। प्रतिमा लक्षण की दृष्टि से यह पूर्वगामी उदाहरणों की यथार्थ अनुकृति पर बनाया गया प्रतीत होता है।

(५) **नृसिंह मूर्ति**—नृसिंहावतार से सम्बन्धित दो प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। एक प्रतिमा राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के उत्तरी पश्चिमी कोने पर बने लघु देवलिका में प्रतिष्ठित है तथा दूसरी मूर्ति राजीवलोचन मन्दिर के एक भित्ति स्तम्भ पर उभार में बनायी गयी है। वाराह प्रतिमा की ही भाँति नृसिंह मूर्ति का रूपायण अर्ध मानुषी तथा अर्ध पशु रूप में हुआ है। समस्त शरीर का निर्माण मानुषी रूप में है, जबकि मुखमण्डल को सिंह मुख के रूप में गढ़ा गया है। सिंह की मुखाकृति से ओज और शक्ति के भाव प्रवाहित हैं।

नृसिंह मन्दिर में प्रतिष्ठित प्रतिमा ही सर्वांगपूर्ण होने के कारण अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी मानी जा सकती है। इसमें नृसिंह को अष्टभुजी रूप में बताया

गया है। इसके पैरों के नीचे एक असुर को दबे हुए अंकित किया गया है। नृसिंह हिरण्यकशिपु को अपने दो हाथों से अधर उठाये हुए हैं। उनका एक हाथ राक्षस के जंघे पर है तथा दूसरा गले के पास है। अन्य दो हाथों के पंजे से असुर के उदर को विदीर्ण करने के लिए उद्यत दिखाये गये हैं। नाखूनों को पेट की त्वचा में धँसे हुए दिखाने में कलाकार ने जो स्वाभाविकता लाई है वह उल्लेखनीय है। ऊपर के दो हाथ भग्न हो चले हैं। शेष दो हाथों को निर्विकार रूप में बताया गया है।[1]

राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप की पार्श्व भित्ति के भित्तिस्तम्भ पर की नृसिंह मूर्ति का लाक्षणिक स्वरूप पूर्वोक्त परम्परा में है, परन्तु इसके रूपायन में कलाकार ने पूर्वोक्त उदाहरण की तुलना में कतिपय परिवर्तन उपस्थित किया है। यहाँ हिरण्यकशिपु का पेट विदीर्ण बताया गया है तथा उसकी बाहर की ओर निकली हुई अंतड़ियों को अभिव्यक्त करने में शिल्पी ने बड़ी चतुराई का परिचय दिया है।

(६) **वामन मूर्ति**—राजीवलोचन मन्दिर के दक्षिणी पूर्वी कोने पर बने वामन मन्दिर के गर्भगृह में भगवान् विष्णु के वामनावतार की मूर्ति प्रतिष्ठित है। पूर्ण उत्फुल्ल कमल पर बटुक भेष में तथा प्रमथ रूप में भगवान् द्विभुजी रूप में स्थानक मुद्रा में खड़े हुए दिखाये गये हैं। उनके एक हाथ में अक्षमाला और दूसरे हाथ में कमण्डलु सुशोभित है। अंग यष्ठि में स्थूलता है, पर इसमें आन्तरिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक भावों की अभिव्यंजना अप्रतिम है। यज्ञोपवीत का निर्देशन राजिम की अन्य मूर्तियों से सर्वथा भिन्न रूप में है। इस उदाहरण में हम त्रिसूत्रमय यज्ञोपवीत पाते हैं। बटुक रूप में भगवान् के बलि के साथ किये गये व्यवहार सम्बन्धी पौराणिक मान्यता को निर्देशित करने के लिए शिल्पी ने दम्भ, रुक्षता, कुटिलता आदि विकारों को प्रकट करने के लिए मुखमण्डल की भावाभिव्यंजना में विशेष ध्यान दिया है और इन समस्त भावनाओं के मध्य भगवान् का यह श्रीविग्रह श्रद्धा तथा आकर्षण का केन्द्र बनने में सफल है। बटुक रूप वामन के पार्श्व में राजा बलि की मूर्ति है, जो दान का संकल्प देने उद्यत दिखाये गये हैं। राजा बलि की मूर्ति का दैहिक सौन्दर्य और उसके रूप मण्डन में निर्देशित शील, संयम, त्याग आदि आत्मिक गुणों द्वारा प्रतिष्ठित दिव्यता दोनों साथ-साथ प्रवाहित होकर दर्शक को अभिभूत कर लेते हैं। राजा बलि के पार्श्व में उनकी धर्म पत्नी की मूर्ति है। यह प्रतिमा राजिम से प्राप्त श्रेष्ठतम उदाहरणों में से एक है।[2] डा० एम० जी दीक्षित ने इसे शरभपुरीय शासकों के राजत्वकाल की निर्मिति बताया है, तथा वे इस वर्ग के अन्तर्गत त्रिविक्रम एवं नारायणतपश्चर्या से सम्बन्धित मूर्तियों की भी गणना करते हैं। अपनी इस मान्यता की पुष्टि में वे इन पर गुप्तकालीन उत्तर भारतीय मूर्तिकला के प्रभाव को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं।[3] परन्तु जैसा कि हम इस अध्याय के प्रारम्भ में ही

---

१. चित्रफलक २३, क्रमांक ३

२. चित्रफलक २४, क्रमांक १

३. हेरिटेज ऑफ इण्डियन आर्ट सीरीज भाग २ पृष्ठ ३०.

कह आये हैं—इस वर्ग के उदाहरणों को सोमवंशी शासकों के समय की कृति मानना सिरपुर एवं मल्लार से प्राप्त मूर्तिकला के उदाहरणों से तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रमाणित है।

(७) **त्रिविक्रम मूर्ति**—यह राजिम से प्राप्त सुप्रसिद्ध प्रतिमा है। किरीट मुकुट, कुंडल, वैजयन्ती हार आदि से अलंकृत, तथा यज्ञोपवीत धारण किये त्रिविक्रम रूप में भगवान विष्णु का एक पैर पाताल लोक में है और दूसरे पैर का विक्षेप आकाशपर्यन्त व्याप्त बताया गया है। पाताल लोक के प्रतीक रूप में शेष नाग की मूर्ति है, जिसमें उसे कुडली के ऊपर आसीन मानुषी रूप में करबद्ध मुद्रा में अभिव्यक्ति किया गया है। इसके सिर पर सप्त फणों की छाया है। विष्णु द्वारा त्रैलोक्य परिमापन को अभिव्यक्त करने के लिए ब्रह्माण्ड के उर्ध्वोन्मुख स्थाणु के प्रतीक द्वारा प्रकट किया गया है। इस स्थाणु का शीर्ष एक असुर मुख द्वारा मण्डित है। यह असुर मुख बलि का प्रतीक माना जा सकता है। त्रिविक्रम रूप विष्णु के ऊपर वाले दो हाथों में क्रमशः चक्र एवं दक्षिणावर्त शंख हैं। दाहिना अधोहस्त कट्यवलंबित मुद्रा में है, जबकि वाम अधोहस्त स्थाणु के शीर्ष पर मण्डित असुर मुखपर्यन्त प्रक्षिप्त हैं।[1]

(८) **नारायण तपश्चर्या मूर्ति (वैकुण्ठनारायण मूर्ति)**— राजीवलोचन मंदिर के प्राकार के उत्तरी पूर्वी कोने पर बने बद्रीनारायण मंदिर के गर्भगृह में नारायण तपश्चर्या की मूर्ति प्रतिष्ठित है। चतुर्भुजी रूप में नारायण कमल पीठ पर पद्मासन में सम्मुखाभिमुख रूप में बैठे हुए हैं। नीचे के दोनों हाथ की अंगुलियाँ परस्पर आबद्ध समाधि की अवस्था को निर्देशित करते जानु संधि पर अवलंबित हैं। ऊपर के दोनों हाथों में क्रमशः चक्र एवं शंख हैं। समाधि की दृढ़ता को प्रकट करती अंग यष्टि का गढ़न, अन्तः सुख और शांति की भावनाओं को प्रस्तुत करने में सफल है। मुख मंडल में परम शान्ति, अनिर्वचनीय सुख के भाव स्पष्ट हैं। इस मूर्ति में दैहिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक भावों का अनुपम समन्वय है। अर्ध निमिलित नेत्रपुट, नासाग्र दृष्टि, तथा स्पन्दनहीनता का भाव लिया सर्वांग विन्यास-समाधि की भूमि के अनुरूप वातावरण के निर्माण में सहायक हुए हैं। यह मूर्ति कमलदल अलंकृत प्रभामंडल से युक्त है।[2]

(९) **गजलक्ष्मी की मूर्ति**—गजलक्ष्मी की दो मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। पहली प्रतिमा राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के प्रवेश द्वार के सिरदल के ललाटबिम्ब पर बनायी गयी है, तथा दूसरी प्रतिमा इसी मन्दिर के महामण्डप के एक स्तम्भ पर उकेरी गयी है।

प्रवेश-द्वार के सिरदल के ललाटबिम्ब पर बनायी गयी प्रतिमा में देवी पूर्णउत्फुल्ल कमल पर पद्मासन में बैठी हुई हैं। इनके दोनों पार्श्वों में क्रमशः एक-एक कमल पर एक-एक हस्ति की प्रतिमा है, जिनके सूँड़ उपर की ओर उठे हुए हैं तथा ये अपने सूँड़

---

१. चित्रफलक २४, क्रमांक २.

२. चित्रफलक २४, क्रमांक ३.

में कुम्भ लिये हुए हैं। कुम्भ अधोमुख हैं। इस तरह दोनों हाथियों द्वारा देवी के जलाभिषेक किये जाने का दृश्य यहाँ उपस्थित किया गया है।[१]

महामण्डप के स्तम्भ पर प्रतिमा का लाक्षणिक स्वरूप भी उपर्युक्त उदाहरण की भाँति है।

(१०) **गंगा-यमुना नदी देवियों की मूर्तियाँ** – राजिम से प्राप्त देवी-देवताओं से सम्बन्धित मूर्तियों के बारे में अपने अध्ययन को समाप्त करने से पूर्व उचित होगा कि गंगा-यमुना नदी देवियों की प्रतिमाओं का भी संक्षिप्त में वर्णन कर दिया जाय। राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के भित्तिस्तम्भों पर इन नदी-देवियों की मूर्तियाँ हैं। रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप के भित्तिस्तम्भों पर भी इस वर्ग के उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त इस वर्ग की कुछ और प्रतिमाएँ अन्य स्थानों पर हैं। मन्दिर वास्तु में इन मूर्तियों का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान माना जाता था, जैसा कि साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है। मन्दिरों में सामान्यतः प्रवेशद्वार के शाखों पर इनकी मूर्तियाँ स्थापित करने की परम्परा थी। इस परम्परा का प्रभाव राजिम में भी रहा है। यह तथ्य रामचन्द्र मन्दिर के प्रदक्षिणापथ के दोनों प्रवेशद्वारों को देखने से प्रमाणित हो जाता है। हम पहले ही कह आये हैं कि इन प्रवेशद्वारों का सम्बन्ध मूलतः किसी अन्य स्वतन्त्र मन्दिर से रहा है। इन नदी-देवियों की मूर्तियों का निर्माण परम्परागत शैली एवं मान्य लक्षणों के आधार पर किया गया है। परन्तु इस स्थान की अपनी विशेषताओं का निर्देशन भी इन मूर्तियों में हुआ है जैसा कि इनमें प्रयुक्त स्तनोत्तरीय एवं वलयित कुन्तल को देखने से विदित होता है। इन नदी-देवियों का आलेखन सामान्यतः इनके वाहनों के साथ किया गया है तथा कुछ उदाहरणों में इनके ऊपर छत्र बताया गया है। इस छत्र के दण्ड को सम्हाले परिचारिका की मूर्ति बनायी गयी है। इसी तरह इनके पार्श्व में कहीं-कहीं पर चामर धारिणी की भी मूर्ति आलेखित है। रामचन्द्र मन्दिर की दाहिनी पार्श्व भित्ति के प्रथम भित्ति स्तम्भ पर जो गंगा की प्रतिमा है, उसके पादपीठ पर मत्स्य युग्म का अंकन है।[२]

(आ) शालभञ्जिका की मूर्तियाँ—

प्राचीन भारतीय शिल्पियों ने अपनी कलात्मक वृत्तियों तथा सौन्दर्य भावनाओं की पूर्णतृप्ति के लिए जिन विषयों को आधार रूप में स्वीकार किया था उनमें शालभञ्जिका की प्रतिमाओं का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। यह मान्य तथ्य है कि इन शालभञ्जिका मूर्तियों का विकास प्रारम्भिक बौद्ध स्तूपों की वृक्षिका मूर्तियों से हुआ है। मन्दिर वास्तु के विभिन्न अंगों पर इनका आलेखन विशुद्ध रूप से अलंकरण हेतु किया गया है। फलतः भारतीय शिल्पियों के सौन्दर्य सम्बन्धी प्रतिमान का निर्धारण, मूल्यांकन करने के लिए शालभञ्जिका मूर्ति एक प्रमाण रूप में स्वीकार की

१. चित्रफलक १०, क्रमांक १

२. चित्रफलक २५, क्रमांक १ एवं २.

जाती रही है। राजिम के मन्दिरों के भित्तिस्तम्भों तथा स्तम्भों पर हमें पूर्ण उभार में इनकी मूर्तियाँ मिलती हैं। राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के प्रवेश-द्वार के अन्त: प्रकोष्ठ की दोनों पार्श्वभित्तियों के भित्तिस्तम्भों पर एक-एक शालभञ्जिका की मूर्तियाँ हैं। इसी तरह इस मन्दिर के महामण्डप के एक भित्तिस्तम्भ पर एक शालभञ्जिका की मूर्ति बनायी गयी है जिसे भ्रान्तिवश लोग सीता की मूर्ति मानते हैं। इस प्रतिमा के वाम-पार्श्व में एक पुरुष आकृति बनायी गयी है, जिसके हाथ में सर्प दिखाया गया है। नारी मूर्ति की तुलना में यह पुरुष मूर्ति बौनी है, परन्तु दोनों एक दूसरे को गलबैंहा डाले हुए हैं। जिस आम्र की छाया में इन्हें खड़े दिखाया गया है, उसकी शाखाओं पर दो पक्षियों को बैठे हुए दिखाया गया है। इनमें से एक पक्षी फल खा रहा है, परन्तु दूसरा निष्काम भाव में बैठा हुआ है। इस प्रकार के पक्षी - युग्म के आलेखन को डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[1] ने 'द्वा-सुपर्णी' सम्बन्धी वैदिक धारणा का प्रतीक माना हैं। फल खा रहा पक्षी बद्ध पुरुष या जीवात्मा का प्रतीक है और जो निष्काम भाव से जगत् व्यवहार को देख रहा है वह मुक्तात्मा अथवा परमात्मा है। इस पक्षी-युग्म की ही भाँति शालभञ्जिका-भौतिक जीवन का प्रतीक है और सर्प को हाथ में बद्ध करना कुन्डलिनी को स्ववश में किये मुक्तात्मा का प्रतीक है। रामचन्द्र मन्दिर के महा-मण्डप के स्तम्भों पर भी शालभञ्जिका की मूर्तियाँ पूर्ण उभार में बनायी गयी हैं।[2]

इस वर्ग के प्रायः सभी उदाहरण त्रिभंग मुद्रा में हैं, तथा आम्र, कदम्ब अथवा अशोक वृक्षों के नीचे खड़े हुए रूप में और एक हाथ से वृक्ष की डाल थामे हुए दर्शाये गये हैं। दूसरे हाथ से चेष्टा विशेष अथवा भाव विशेष को प्रकट करने का प्रयास है। वलयित कुन्तल, उष्णीष परम्परा में बँधा जूड़ा, इनके मुखमण्डल की कान्ति को बढ़ाने में वस्तुतः सफल भासित होते हैं। कर्णशोभन, हार, कंकण, भुजबन्ध और मेखला का अलंकरणात्मक प्रयोग प्राय: सभी उदाहरणों में सामान्य रूप से देखने को मिलता है। कटि से नीचे का अंग अधोवस्त्र द्वारा ढंका हुआ है। इस अधोवस्त्र के चुन्नट की तहों को प्राय: सभी उदाहरणों में बड़ी कुशलता के साथ प्रकट किया गया है। समानु-पातिक अंग-विन्यास, भरे एवं पुष्ट जानु, क्षीण कटि, गम्भीर नाभि, त्रिवली रेखा, उन्नत स्तन, बिम्बोष्ठ, प्रत्यञ्चाकार भ्रूविलास, आदि के द्वारा नारी सौन्दर्य सम्बन्धी परम्परागत भावनाओं को इसमें सम्यक रूप से निरूपण किया गया है। यद्यपि ये मूर्तियाँ दैहिक सौन्दर्य की दृष्टि से अप्रतिम रूप-सम्पन्न हैं, परन्तु इनमें मांसलवादी उत्तेजक भावनाओं को सर्वथा सन्यत रखने का प्रयास है, परिणामतः भावाभिव्यञ्जना में स्वीकृत नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा है।

(इ) नायिका मूर्तियाँ :

भारतीय शिल्पियों ने जब यह अनुभव किया कि शालभञ्जिका की मूर्ति के द्वारा दैहिक सौन्दर्य सम्बन्धी कल्पना को भले ही मूर्तरूप प्रदान किया जा सकना

---

१. व्हिज़न इन लांग डार्कनेस पृ० ७४-७६.

२. चित्रफलक १८, क्रमांक २.

सम्भव हो, परन्तु इनके माध्यम से मनुष्य की सहजात भावनाओं, लालसाओं तथा सुख-दुख के आवेग के क्षणों को चाक्षुष बना पाना असम्भव है, तब उन लोगों ने विविध भावभूमियों पर नायिकाओं की मूर्तियां बनानी प्रारम्भ की। राजिम से प्राप्त नायिका प्रतिमाएँ यद्यपि संख्या में कम हैं पर उनकी रसात्मक सम्प्रेषणशीलता अद्वितीय है।

राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के बाह्य-द्वार प्रकोष्ठ के भित्तिस्तम्भ की नायिका की मूर्ति शृंगार नायिका की असाधारण सौन्दर्य सम्पन्न प्रतिमा है।[1] इस मूर्ति का केश विन्यास यहाँ की पूर्वोल्लिखित परम्परानुसार है। नायिका अपना समस्त शृंगार कर चुकी है, केवल अधोवस्त्र को कटि से बाँधना शेष है। तीन लड़ियों वाली मेखला हाथ में झूल रही है, जिसमें टँके मुक्ता को चुगने के लिए हंस द्वारा की गयी चेष्टा में उसका चोंच नायिका के शरीर को छू जाता है। इस स्पर्शमात्र से नायिका कामोद्दीप्त हो उठी है। उसका सारा शरीर प्रकम्पित है और निवि को बाँध सकने में वह अपने आपको असहाय-सा पा रही है। नायिका की बोझिल पलकों में अनुराग का अनन्त भाव समाया हुआ है। नायिका के पार्श्व में सुग्गे के आलेखन द्वारा काम भाव की उपस्थिति को प्रकट किया गया है। सुग्गा–कामदेव का वाहन माना जाता है। स्थूल दृष्टि से विचार करने पर यह अभिसारिका नायिका की मूर्ति प्रतीत होती है। परन्तु अपनी इस कृति के द्वारा मूर्तिकार स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म की ओर ले जाने को व्यग्र जान पड़ता है। इस प्रतिमा के साथ हंस का आलेखन मात्र संयोग अथवा कलाकार की कल्पना न होकर सोद्देश्य है। भारतीय वांगमय में हंस प्राण शक्ति या चेतन तत्त्व (हंसाख्यं चेतनारूपम्) है ऐसी स्थिति में नारी प्रतिमा का सम्बन्ध सामान्य अभिसारिका नायिका से न होकर "मानसी कन्या" से है।

इसी प्रकोष्ठ के दूसरे भित्तिस्तम्भ पर नायिका की एक अन्य मूर्ति है,[2] जिसे किसी कारण विशेष के वशीभूत हो शिल्पी को अधूरा छोड़ देना पड़ा है। परन्तु इसका बाह्य रूपगढ़न का कार्य पूर्ण है। अतः शिल्पी द्वारा निर्देशित भावना भी मुखर हो चली है। प्रथम दर्शन में यह एक मुग्धा नायिका की मूर्ति प्रतीत होती है, परन्तु इसे प्रतीक रूप देकर शिल्पी ने सूक्ष्म आध्यात्मिक भावों को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। त्रिभंग मुद्रा में बनायी गयी इस नायिका का दक्षिण हस्त ऊपर की ओर इस प्रकार से उठा हुआ है मानों वह अंगडाई ले रही हो, अथवा पीछे की ओर जूड़े के शिथिल बन्ध को सहेज रही हो। वाम हस्त दक्षिण स्तन के पास है। स्तन स्पर्श मातृत्व का प्रतीक है। यह मन, प्राण और वाक् को सम्पोषित करने वाली मही-माता है। वह सृष्टि का हेतु है। इस तरह इस नायिका-मूर्ति में दर्शक के लिए एक ओर जहाँ शृंगारिक रसात्मक अनुभूति के लिए व्यापक भूमि है, वहीं दूसरी ओर इसमें अन्तर्निहित प्रतीकात्मक भावों के द्वारा सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करने का

---

१. चित्रफलक १०, क्रमांक ३.

२. चित्रफलक १०, क्रमांक २.

दिशा-निर्देश भी है। शृंगारिक अनुराग और आध्यात्मिक श्रद्धा-उभय वृत्तियों से मन को तुष्टि करने वाली यह मूर्ति राजिम के शिल्पियों की अनुपम देन है। रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप के स्तम्भ पर वीणा वादन में निमग्न नायिका की मूर्ति है।

(ई) मिथुन मूर्तियाँ :

राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के प्रवेश द्वार के पाखों पर तथा गर्भगृह के प्रवेश द्वार के पाखों पर विभिन्न भावभंगिमा में मिथुन मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। इसी तरह रामचन्द्र मन्दिर के एक स्तम्भ पर आलिंगनबद्ध मिथुन मूर्ति पूर्ण उभार में तरासी गयी है। प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मिथुन मूर्तियों को धार्मिक महत्व के स्थानों पर प्रवेश-द्वार के पाखों पर, अथवा अलिन्द आदि पर स्थापित करने का विधान था। मिथुन मूर्ति एक ओर अपनी स्थूलतम प्रतीकात्मकता के द्वारा जहाँ सृष्टि के विकास क्रम को स्पष्ट करती है वहीं दूसरी ओर यह दैहिक और आत्मिक ऐक्य का प्रतीक बन जाती है। दैहिक और आत्मिक ऐक्य की इस सूक्ष्म और उत्कृष्ट अभिव्यंजना में जीव और ब्रह्म के परम ऐक्य का निर्देशन है तथा योगशास्त्र प्रतिपादित रसानन्द समाधि योग की चाक्षुष अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि भारतीय शिल्पियों के द्वारा बनाये गये मिथुन मूर्तियों को देख कर दर्शक जिस अनिर्वचनीय रस की अनुभूति प्राप्त करता है, वह मात्र क्षणिक न होकर शाश्वत होता है, पार्थिव न होकर दिव्य होता है। इन्हें देख कर जिस आनन्दानुभूति का उद्रेक होता है, उसका विषय ऐन्द्रिक विकृतियाँ न होकर आत्मिक कोमल संवेदनाएं होती हैं। इस भाव प्रवणता की प्रतिष्ठा के लिए ही शिल्पियों ने इनके निर्माण में दैहिक सौन्दर्य की पूर्ण विकसित अभिव्यंजना के बाद भी शील ओर संयम के द्वारा ऐन्द्रियता को संयत किया है। इन मिथुन मूर्तियों में निर्देशित विभिन्न चेष्टाओं अथवा संकेतों में अनुराग और समर्पण के भावों द्वारा रस का संसार बँधा हुआ है।

राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के प्रवेश-द्वार के पाखों पर तथा गर्भगृह के प्रवेशद्वार के पाखों पर उत्कीर्ण मिथुन मूर्तियाँ प्रेम व्यापार से सम्बन्धित विभिन्न भावभूमियों को चाक्षुष बनाती है। इन सब का अपना अलग-अलग विषय है और विषयानुसार ही रसानुभूति की अलग-अलग अवस्थाएँ हैं। पर रसप्रदाय क्षमता में सब समान हैं। इनमें कहीं याचना का भाव है तो कहीं उद्दीपन की चेष्टा। कहीं प्रगाढ़ आलिंगन में निबद्ध प्रेमी युगल के परस्पर अनुराग और समर्पण की भावना का उत्स है। दैहिक और आत्मिक ऐक्य के प्राकट्य हेतु शिल्पी ने आलिंगनबद्ध मूर्ति में पुरुष और नारी को एक-दूसरे की आँखों में खोये, दोनों के नासाग्रों को परस्पर सम्बद्ध प्रगाढ़ चुम्बन में रत बताया है।[1]

रामचन्द्र मन्दिर के एक स्तम्भ पर आलिंगनबद्ध मिथुन मूर्ति है। आलिंगन

---

१. चित्रफलक २६, क्रमांक १ और २.

की यह लतावलम्बितमुद्रा में बनायी गयी प्रतिमा शिल्प तथा सौन्दर्याभिव्यंजना में अद्वितीय है। नारी की प्रेम प्रकम्पित अंगयष्टि को समान दशा में होने के कारण पुरुष सम्हाल सकने में असमर्थ-सा होकर मानों वृक्ष का सहारा ले रहा हो। मंजरियों से लदा अशोक वृक्ष, उसकी शाखा पर विहार करता सुग्गा, मानों समस्त वातावरण को अनुरागमय बना प्रेमी युगल के लिए उद्दीपन की सामग्री जुटा रहे हैं। सम्पूर्ण मूर्ति प्रेम और अनुराग के उदात्त भावों में डूबी हुई है।

(उ) अलंकरणात्मक अभिकल्प :

अलंकरणात्मक अभिकल्पों की दृष्टि से भी राजिम की मूर्ति-कला अत्यन्त समृद्ध है। स्तम्भों के शीर्ष पर के पूर्णघट के मुख से प्रवाहित मन्जरी, मूर्तियों के वस्त्रों पर आलेखित विविध अलंकरणात्मक आकृतियाँ, मुक्ता चुगता हंस का अलंकरणात्मक-स्वरूप आदि अत्यन्त मनोरम हैं। परन्तु इस वर्ग के प्राप्त उदाहरणों में कल्पलता अभिप्राय का अलंकरणात्मक स्वरूप सर्वश्रेष्ठ है। राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के प्रवेशद्वार के पास पर कल्पलता अभिकल्प का आलेखन है। इसी तरह इस मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर भी इसका चारु चित्रण है। राजीवलोचन के मन्दिर के महामण्डप के प्रवेश द्वारों की अन्तः भित्ति पर भी कल्पलता अभिप्राय का उत्खचन अत्यन्त सजीवता और आपेक्षित गहराई में हुआ है। कमलवन और उसमें विविध प्रकार की क्रीड़ाओं में रत यक्षों की मूर्तियों[1] को प्रकट करने में कलाकार ने जिस कलात्मक सिद्धहस्तता का परिचय दिया है, वह इस बात का प्रमाण है कि उन्हें इस परम्परा में कार्य करने का दीर्घकालीन अनुभव रहा है। लहरदार घुमावों को जिस गत्यात्मकता, गंभीरता, और सजीवता के साथ खोदा तथा नक्काशा गया है, वह अद्वितीय है। रत्नागिरि के उत्खनन से प्राप्त कल्पलता अभिप्राय से अलंकृत द्वार पाख के शिल्प और विषय का यह विकसित रूप है।

कल्पलता अभिकल्प का रूपायण मात्र रिक्त स्थलों को पूरने के उद्देश्य से नहीं किया गया है। अपितु यहाँ भी कलाकार ने मूर्तिकला को गूढ़ तथ्यों को प्रकट करने में समर्थ सबल प्रतीक मानते हुए इसके माध्यम से यात्रियों को सन्देश देना चाहा है। उदाहरण के लिए हम राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार-प्रवेश-द्वार के प्रथम शाख के अधोभाग पर आलेखित "भद्र-दिव्य-शंख" के मुख से निःसृत कल्पलता अभिकल्प को ले सकते हैं। "भद्रदिव्यशंख" परम व्योम का प्रतीक है। इससे निःसृत पत्रलता का एक से अनेक होकर प्रवाहित होना सहस्त्राक्षराविद्या का प्रतीक है। पत्रपल्लवों का परस्पर अवगुंठित वहिर्चक्र एवं अन्तः चक्र में प्रवाह अपान-प्राण का सूचक है। इस पर गतिशील सर्प-कालतत्व का प्रतीक है और इसकी शाखाओं पर विविध प्रकार की चेष्टाओं में रत मानव-मूर्तियाँ बद्धपुरुष या जीवात्मा के प्रतीक हैं।

---

१. चित्रफलक २७, क्रमांक २.

(ऊ) अन्य मूर्तियाँ :

(१) **नाग**—त्रिविक्रम एवं नृवाराह की देवप्रतिमाओं तथा अनन्तशायी विष्णु एवं पार्श्वनाथ की मूर्तियों में हम शेषनाग को उक्त देवों के श्री विग्रह के अनिवार्य रूप में पाते हैं। इसके अतिरिक्त नागों का स्तम्भों,[1] द्वारशाखाओं[2] तथा भित्ति-स्तम्भों[3] पर स्वतंत्र रूप में भी आलेखन है। पाश्चात्य विचारकों ने नाग को काम-वासना का प्रतीक माना है। परन्तु यह मत भारतीय विचारों के सर्वथा विपरीत है। प्राधानिक रहस्य की टीका में भुवनेश्वरी संहिता का जो उद्धरण मिलता है, उसमें नाग को कालतत्व का प्रतीक (नाग: काल: समाख्यात: ······) माना गया है। डा० जनार्दन मिश्र ने काल की व्याख्या करते हुए लिखा है कि विवर्तन, परिणाम और उप-रति रूप में कार्य करने वाली विभु की गतिशक्ति का नाम काल है यह पर-अपर अर्थात् क्रम-अक्रम का बोध कराता है।[4] तंत्रागमों में नाग को कुण्डलिनी का द्योतक माना गया है। तीनफण युक्त सर्प को त्रिगुण (सत्व, रजस् एवं तमस्) अथवा इड़ा-पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियों का प्रतीक माना गया है। इसे ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया—इस शक्तित्रय का द्योतक भी माना गया है। इसी तरह पंचफण युक्त नाग को पंच-तत्त्व अथवा पंचमहाभूत का प्रतीक माना जाता है। सप्त फण युक्त नाग को—राग, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह एवं मत्सर—इन सात विकारों का द्योतक मानते हैं।[5] परन्तु इसे मन, प्राण एवं वाक् (पंच महाभूत) इस सप्ततन्तुमय यज्ञ का प्रतीक स्वीकार करना ही श्रेयस्कर होगा।

(२) **हंस या हरिहंस**—राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप में प्रवेश के लिए उत्तर एवं दक्षिण दिशा की ओर प्रवेश द्वार बनाये गये, उनके पाखों के अधोभाग पर मोती की लड़ियाँ दबाये हंस की मूर्ति उकेरी गयी है। इस मूर्ति में शिल्पी ने हंस के शरीर को स्थिर-शान्त रूप में गढ़ा है, पर उसके पंखों को उर्ध्वगामी अतिकुटिल-भंग-तरंगों के रूप में प्रस्तुत किया है।[6] इस तरह यह मूर्ति "स्थिर होते हुए भी जो गति का कारण है, तथा समस्त गतियाँ अन्त में जिसमें स्थित होती हैं," का प्रतीक स्वीकार की जा सकती है। अस्यवामीय सूक्त में इस परमतत्व को "दिव्य सुपर्ण" नाम से अभिहित किया गया है।

देवों में प्रजापति को "महासुपर्ण" कहा गया है, तथा उसे स्थिति एवं गति का आधार माना गया है। अथर्ववेद में सूर्य की एक संज्ञा "हरिहंस" मिलती है। सूर्य-सम्वत्सर चक्र है तथा यह संवत्सरचक्र-प्रजापति का ही रूप है। स्वर्ग, अमृत और

---

१. चित्रफलक ९, क्रमांक २.
२. चित्रफलक १२.
३. चित्रफलक २६, क्रमांक १.
४. भारतीय प्रतीक विद्या पृ० १५.
५. प्रतीकशास्त्र-परिपूर्णानन्द पृ० २१७.
६. चित्रफलक २७, क्रमांक ३.

नाभि-ये तीन संवत्सरचक्र के विशिष्ट गन्तव्य माने गये हैं। ऋग्वेद में इन्द्र को स्वर्ण-हंस कहा गया है। इसमें अग्नि, प्राण, नारायण, पुरुष, प्रजापति, हिरण्यगर्भ, हंस, सुपर्ण एवं सूर्य से इसकी अभिन्नता बतायी गयी है। इस दिव्य सुपर्ण का उल्लेख "अपाम् गर्भम्" के रूप में भी प्राप्त होता है। "अपाम्-गर्भम्" अग्नि का एक विरुद है। महाभारत में दिव्य-सुपर्ण के लिए "हिरण्यपक्षशकुनि" नाम का उल्लेख है। इस तरह यह मूर्ति वैदिक देव-तत्त्व, सृष्टि विद्या तथा उपासना के क्षेत्र में "एकंसद्विप्रा बहुधा वदन्ति" का प्रतीक है। यही ऋत् है।

(३) **अग्निषोमात्मकं जगत्**—राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के एक स्तम्भ पर गवाक्ष-वातायन के मध्य सुखासन में बैठे एक पुरुष की मूर्ति उकेरी गयी है, उसके पार्श्व में एक कुम्भ अंकन है। यह सम्पूर्ण दृश्य-"अग्निषोमात्मकं जगत्" की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। पुरुषमूर्ति प्राण-अग्नि का तथा कुम्भ सोम का प्रतीक है।

(४) **परिचारक एवं राजपुरुषों की मूर्ति**—राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप की चार पार्श्वभित्तियों पर परिचारकों की मानवाकार प्रतिमाएँ पूर्ण उभार में बनायी गयी हैं। दानेश्वर मन्दिर के सामने-प्राकार भित्ति पर एक राजपुरुष की प्रभामण्डल-युक्त प्रतिमा है।[1] इस वर्ग की मूर्तियों में शिल्पियों को पुष्ट शरीर की यथार्थ अभिव्यंजना में अतीव सफलता प्राप्त हुई है। समा-नुपातिक अंग-विन्यास, पुष्ट एवं मांसल-युक्त अंग यष्टि, वलयित कुन्तल एवं वस्त्राभूषण का सूक्ष्मांकन-इन प्रतिमाओं की विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

● ● ●

१. चित्र फलक २६, क्रमांक ३

परिशिष्ट-१

महाशिवतीवरदेव का राजिम ताम्रपत्रलेख

मुद्रा

श्रीमत्तीवरदेवस्य कोसलाधिपतेरिदम्
शासननं धर्म्मवृद्धयर्थम् स्थिरमा-चन्द्रतारकम् ।।

प्रथम पटल

१. ओं ।। जयति जगत्त्रयतिलकः क्षितिभृत्कुलभवन-मङ्गलसूत्रः श्रीमत्तीवरदेवो धौरेयः स —

२. किल पुण्यकृताम् ।। स्वस्ति श्रीपुरात्समधिगतपञ्चमहाशव्दानेक नतनृपति-किरीट—

३. कोटिघृष्टचरणनखदर्पणोद्भासितोपि कण्ठादुन्मुखप्रकटरिपुराजलक्ष्मी—

४. केशपाशाकर्षणदुर्ललितपाणिपल्लवो निशितनिस्त्रिंशघनघातपातितारिद्विरदकु—

५. म्भमण्डलगलद्वह-शोणितसदासिक्तमुक्ताफलप्रकरमण्डितरणाङ्गण—

६. द्विविधरत्नसम्भारलाभलोभविजृम्भमाणारिक्षारवारिवाडवानलश्चन्द्रोदय इवा-कृत—

७. करोद्वेगः क्षीरोद इवाविर्भूतानेकातिशायिरत्नसम्पत्गरुत्मानिवभुजङ्गोद्धार-चतुरः

८. परामृष्टशत्रुकलत्रनेत्राञ्जनकोमलकपोलकुंकुमपत्रभङ्गशिष्टाचारव्यवस्था—

९. परिपालनेक दत्तचित्तः (।) अपि च प्राक्तने तपसि यशसि रहसि चेतसि चक्षुषि वपु—

द्वितीय पटल-पुरोभाग

१०. षि च पूजितो जनेनाक्लिष्टतया नितान्तमवितृप्तो गूढो गाढस्वश्च प्रसन्नवद—

११. नेन च-अलंकृतः स्वामिभवनेप्यबहुलपनोनुज्झितः कुतृष्णोपिनितान्तत्या—

१२. गी रिपुजनप्रचण्डोपि सौम्यदर्शनो भूविभूषणोप्यपरुषः स्वभावतः कि—

१३. श्वासन्तुष्टो धर्मार्जनेन सम्पल्लाभे स्वल्प क्रोधेन प्रभावे लुब्धो यशसि न प—

१४. रवित्तापहारे शुक्लः सुभाषितेषु न कामिनीक्रीडासु प्रतापानलदग्धाशेष—

१५. रिपुकुलतूलराशिस्तुहिनशिलाशैलधवलयशोराशिप्रकाशितदिगन्तः कान्तः प्रकृत्या

१६. श्रीमानिन्द्रबलसूनीरलंकृत पाण्डुवंशस्य श्रीनन्नदेवस्य तनयः प्राप्त-स्वपुण्य—

१७. सम्भारप्रशमिताशेषजगदुपद्रवः स्वप्रज्ञासुचिसमुद्धृताखिलकंटकः पर

१८. मवैष्णवो मांतापितृपादानुध्यातः श्रीमहाशिवतीवरराजः कुशली ।। पेण्ठाम-भुक्तीय—

द्वितीय पटल-पृष्ठभाग

१९. पिम्परिपद्रके ब्राह्मणान् सम्पूज्य प्रतिवासिनः समाज्ञापयति । विदितमस्तु
२०. भवतां यथास्माभिः अयम् ग्रामो यावद्रविशशिताराकिरणप्रतिहतघोरान्ध-कारम् ज—
२१. गदवतिष्ठते तावदुपभोगाय सनिधिः सोपनिधिश्चाटभट प्रवेशो दा—
२२. रद्रणकसर्वकरादानसमेतो मातापित्रोरात्मनश्च पुण्याभिवृद्धये भा—
२३. रद्वाजसगोत्र-वाजसनेय माध्यन्दिन भट्टगौरिदत्तपुत्र-भट्ट—
२४. भवदत्त भट्टहरदत्ताभ्याम् ज्येष्ठ-द्वादश्यामुदकपूर्वम् प्रतिपादित इ—
२५. त्यवगम्य भवद्भिर्यथोचितमस्मै (आभ्याम्) भोगभागमुपनयद्भिः सुखम्प्रति-
२६. वस्तव्यमिति ॥ भाविनश्च भूमिपालानुद्दिश्येदमभिधीयते । भूमि प्र—
२७. दा दिवि ललन्ति पतन्ति हन्त हृत्वा महीं नृपतयो नरके नृशंसाः

तृतीय पटल

२८. एतद्वयं परिकलय्य चलांच लक्ष्मीमायुस्तथा कुरुत यद्भवतामभीष्टम् ॥
२९. अपि च (।) रक्षापालनयोस्तावत्फलम् सुगतिं दुर्गतिं को नाम स्वर्गमुत्सृज्य
३०. नरकं प्रतिपद्यते (॥) व्यासगीतांश्चात्र श्लोकानुदाहरन्ति (।) अग्नेरपत्यम् प्रथमम्
३१. सुवर्णग् भूर्वैष्णवी सूर्य्यसुताश्च गावः दत्तास्त्रयस्तेन भवन्ति लोका यः कंचनम् गा—
३२. श्च महींञ्च दद्यात् (॥) षष्ठिवर्ष सहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः आक्षेप्ता—
३३. च अनुमन्ता च तान्येव नरके वसेत (॥) बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिः सागरादिभिः
३४. यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् (॥) स्व दत्तां परदत्तां वा यत्नाद्रक्ष
३५. युधिष्ठिर । महीं महिममताम् श्रेष्ठ दानात् श्रेयोनुपालनमिति ॥ प्रवर्धमान—
३६. विजय-राज्य सम्वत्सरु (रे) ७ कातिक दिवसु अष्टमु ८ ॥

परिशिष्ट-२

जगपालदेव का राजीवलोचन मन्दिर शिलालेख :

१. ओं नमो नारायणाय ॥ स्वस्ति । वडहरदेसा (शा) द्विनिर्गतसमधिगतपंञ्च-महास (श) ब्दाभिनन्दितसुवर्णाकलसोपरीन्द्रगोपक संकास (श) च्छत्रनेत्र-चीवरालंकृतपताकाचिन्हनसंयुक्तः

२. पंच (ह) न्सकुलानुरन्जकश्रीराजमालकुलामलतिलकठक्कुरश्रीसाहिल्लनामा ॥ येन वै त्रासिता (:) सू (शू) राःभूमिपाला महारणे । आधिपत्यं भवेद्यस्य विवरभूमि (रु) पा

३. ज्जिते ॥१॥ तस्यानुजो भवेद्भ्राता वासुदेवो तथापि वा । भायिलं च भवेत्पुत्रं देसलं चारिमर्द्दनं ॥२॥ तृतीयः स्वामिनामा च रिपवः क्षयकारिणं । तेषां भ (ट्ट) विलै दे—

४. सं (शं) नीतं वै पत्तनै (:) सह ॥ ३ ॥ पुनर्न्नवस (श) तः ग्रामाः षट-पंचास (श) षु (च्छ) तानि च । (उ) पाज्जितं विराहदेसं पौरुषैर्भुज-विक्रमैः ॥ ४ ॥ स्वामिपुत्रो महावीरो जयदेवोपि नामतः (।) ए—

५. कविंशसतैः ग्रामैः दाण्डोरं समुपाज्जितं (तम्) ॥ ५ ॥ तथा च अनुजोपुत्रो देवसिंहमनूपमं । सार्धसप्तशता येन कोमो नीतं च मंडलं ॥ ६ ॥ विक्ष्याता (विख्याता) उदयादेवी ठक्कुराज्ञी म—

६. होदया । सत्यधर्म्मरताः सा (शा) (न्ता) स्वकुलानन्दवर्द्धनी ॥ ७ ॥ एभिः पुत्रो महावा (बा) हो जगपालोपि नामतः (।) संग्रामाभिमुखा येन विमुखाः क्षत्रिया (:) कृताः ॥ ८ ॥ मायुतिका महा (सू)—

७. राः सावन्ताः मण्डलेस्व (श्व) रा (:) भयाज्य (ख) स्व प्रचण्डारि (:) षर्व्वथा (सर्व्वथा) श्रयणं गताः ॥ ९ ॥ धन्विनोपि यथा रामो क्षत्रियः कुलमर्द्दनं । तथायं स (श) रसंघातैः निहण्येद्रिपुवाहिनीं (नीम्) ॥ १० ॥ अश्वारोहो—

८. पि संग्रामे वारणा नरवाजिनः । गतास्ते प्राङ् मुखाद्यस्य सिंहेनेव यथा गजा (:) ॥ ११ ॥ नेङ्गिल्लैर्व्वाथ चर्म्मभ्यां खड्गपाणौर्म्महाहवे निहण्येत्स (च्छ) त्रुसंघातं वीरनेत्री यथा रणे ॥ १२ ॥

९. (श्री) जाजल्लदेवप्रभुराज्यकार्ये जगपालनामा रिपुगन्धहस्ती । उपाज्जिता ये (न) सुवीरवृ (क्र) त्यैः सराठं सतेरमं तमनालदेसं (शम्) ॥ श्रीरत्नदेवः नृपराज्यकाले (सि) न्दूरभाङ्गु स्तलहारिभू—

१०. मो (।) (उ) पाज्जितो येन सुवीरवृ (क्र) त्यैः सत्यन्च (ञ्च) सत्यं जग-सिंहनामं ॥ १४ ॥ पृथ्वीदेवनरेन्द्रस्य राज्ये चैवाधिकं कृत (तम्) । दुर्गमे

(षु) महादुर्गं नीतं सरहरागढं (ढम्) ॥ १५ ॥ तथापि मचका (सि) हवा च दुर्गं पुनः

११. गृहीतं भ्रमरवद्रदेसं (शः) । स्ववा (बा) हुना विक्रमं येन साधितं जगपाल-नामा रिपुगन्धहस्ती ॥ १६ ॥ कान्तारं कुसुमभोगं कान्दा (डो) ङ्गरमेव च। देसं (शं) काकयरं वापि नीतं येनाथ लीलया ॥ १७ ॥ परोक्षे

१२. रामदेवस्य रामसोभोपि रुद्रसं (।) जगपालपुरं जातं कृते देसे (शे) पुनर्ण्णवे ॥ १८ ॥ कलौ धर्मेषु कौन्तेयौ (यः) सत्यैर्जीमूतवाहन (न) । विक्रमेण यथा रामो दाने भानुसुतोपमा (मः) ॥ १९ ॥ क्षत्रज्ञो (क्षात्रज्ञः) स—

१३. त्यवक्ता च द्विजदेवाग्निपूजकः (।) पुराणागमसा (शा) स्त्राणां श्रोता वै भारतादिभिः ॥ २० ॥ रामायणमुखाः सर्व्वें वक्ता जीवधरोपि च । मनीषी व्र (ब्र) ह्मवन्से (वंशे) तु भारतीवरदोपि वा ॥ २१ ॥ ईदृ (शः)

१४. च भवेत्पुंसो जगपालोपि सुन्द [रं] (रः) ॥ रामशोभा स (प्र) कासा (शा) [य] प्रासादं कारितवानिमम् ॥ २२ ॥ साल्मलीयं नाम ग्रामं नैवे-द्याय निवेदितां (ये) च भूपा भविष्यन्ति पालयिष्यन्ति सर्व्वदाः (दा) ॥ २३ ॥

१५. (स्था) नपतिय (यं) मनियमस्वाध्यायध्यानानुष्ठानरतः भगवन्तः श्रीमुक्तात्मा नाम ॥ ॥ जगपालानुजौ भ्राता गाजलोपि धनुर्द्धरं (रः) । विक्रमी दुष्ट-हन्ता च स (श) त्रुसंघभयङ्करं (रः) ॥ २४ ॥ त [स्य]

१६. पृष्ठानुजो जा [तः] जयत्सिंहोपि नामतः (।) विभत्सस्योपमं वी [रं] धन्विनं रिपुनास (श) नं ॥ २५ ॥ प्रधानं तृषु (त्रिषु) राज्येषु देवराजोपि नामतः [।] एभिस्तु पक्षसंयोगैः साधिताश्च वसुन्धराम् ॥ २६ ॥

१७. इति श्रयोध्यापुरीयान्वये महामाहेस्व (श्व) रपरमवैष्णव्य (व) महापण्डित-ठक्कुरश्रीजसोधरपुत्रेण द्विजदेव-गुरुसु (शु) श्रुषाभिरतेन मनीषिणा भक्ति-भावानुरञ्ज केन मह—

१८. त्कविर्किकरेण लक्षणेन बिना ठक्कुरश्रीजसानन्देन कृता प्रशस्तिः (।) लिखिता चेयं रूपकारश्रीरत्नपालेन उत्कीर्ण्णापि वा ॥ कलचुरि संवत्सरे ८९६ मांघे मासि सु (शु) कल—

१९. पक्षे रथाष्टम्यां (वु) (बु) धदिने लिखिता इति ॥

सहायक ग्रन्थ सूची

मूलग्रन्थ

देवीभागवतपुराण : कमलकृष्णस्मृतितीर्थ द्वारा सम्पादित, कलकत्ता

पद्मपुराण : हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना

ब्रह्मपुराण : क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बम्बई

बृहत्संहिता : वाराणसी

भागवतपुराण : बंगवासी प्रकाशन

महाभारत : बंगवासी प्रकाशन

मत्स्यपुराण : हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना

लिंगपुराण : कलकत्ता

वायुपुराण : हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना

विष्णुपुराण : कलकत्ता

शब्दकल्पद्रुम : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

स्कन्दपुराण : बंगवासी प्रकाशन

आधुनिक शोधग्रन्थ

अग्रवाल व्ही. एस. : व्हिजन इन लांग डार्कनेस

उपाध्याय, भगवतशरण : हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास प्रथम खण्ड–प्राचीन भारतीय स्थापत्य कला खण्ड–नागरी प्रचारिणी

दीक्षित, एम. जी. : हेरिटेज आफ इण्डियन आर्ट सिरीज भाग २–टेम्पुल्स आफ मुखलिंगम, सिरपुर एण्ड राजिम

दास, अमरनाथ : इण्डिया एण्ड जम्बू आईलेण्ड

परिपूर्णानन्द : प्रतीकशास्त्र

पर्सीब्राऊन : इण्डियन आर्किटेक्चर भाग १

पलीट : कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम भाग ३, इण्डोलाजिकल बुक हाऊस वाराणसी

बनर्जी, जे. एन. : डेव्हलपमेंट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी

मिराशी, व्ही. व्ही. : कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम भाग ४

मिश्र, जनार्दन : भारतीय प्रतीक विद्या

राव, टी. ए. गोपीनाथ : एलीमेंट्स आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी

लाल, बी. बी. : इण्डियन आर्केयालाजी सिन्स इण्डिपेण्डेन्स

हीरालाल : डेस्क्रिप्टिव लिस्ट आफ इन्सक्रिप्सन्स इन सी. पी. एण्ड बरार–प्रथम संस्करण

अन्य ग्रन्थ तथा अनुसंधान पत्रिकाएँ

एन्श्येण्ट इण्डिया : (एनुअल जरनल आफ आर्कियालॉजिकल डिपार्टमेंट)
आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स (ओल्ड एण्ड न्यू सीरीज)
एपीग्राफिया इण्डिका
जरनल ऑफ विहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसायटी
जरनल ऑफ दी न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया
इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली
न्यूमिस्मेटिक सोसायटी जर्नल
कलिंग हिस्टारिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट जर्नल
कजिन्स : प्राग्रेस रिपोर्ट आफ आर्कियालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया (१९०३-०४)
रायपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर : १९०९

चित्रफलक–१

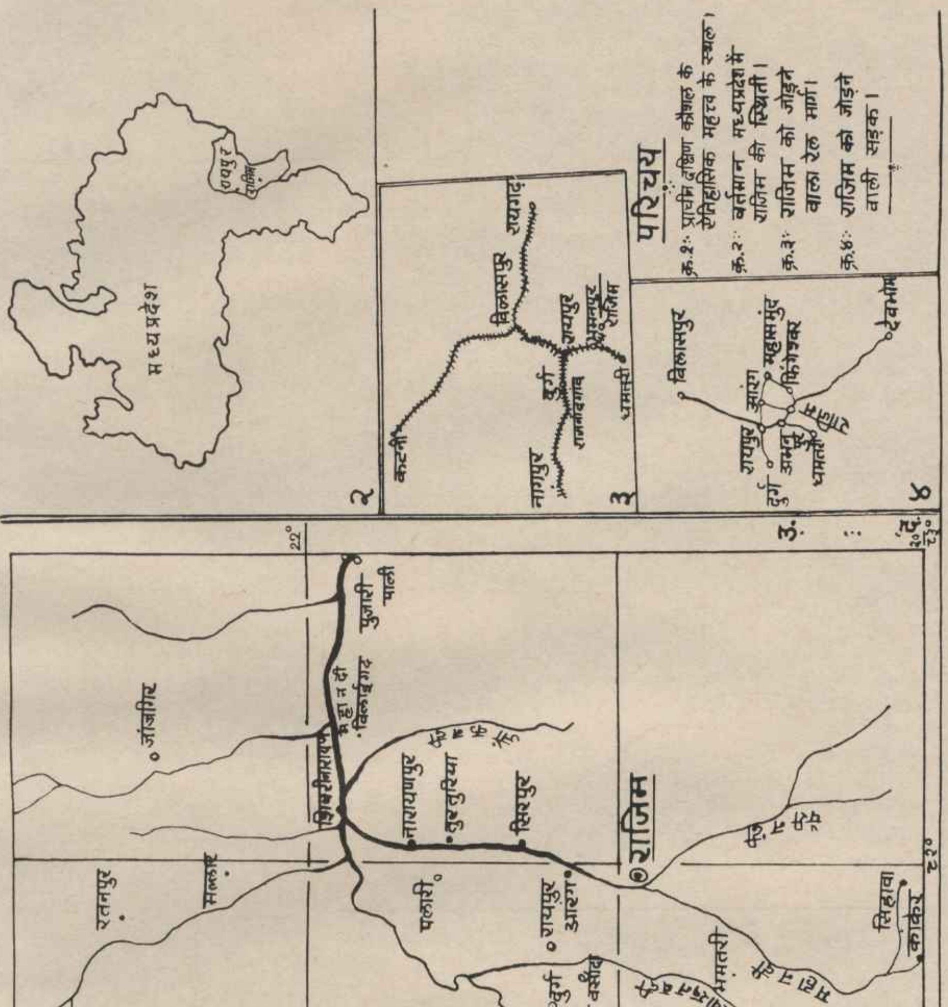
मध्यप्रदेश
राजिम
परिचय
क्र.१: प्राचीन दक्षिण कौशल के ऐतिहासिक महत्व के स्थल।
क्र.२: वर्तमान मध्यप्रदेश में राजिम की स्थिति।
क्र.३: राजिम को जोड़ने वाला रेल मार्ग।
क्र.४: राजिम को जोड़ने वाली सड़क।
रतनपुर
मल्हार
जांजगीर
शिवरीनारायण
नारायणपुर
तुरतुरिया
सिरपुर
रायपुर
आरंग
पलारी
दुर्ग
नागपुर
धमतरी
सिहावा
कांकेर
पुजारी पाली
बिलासपुर
कटनी
रायगढ़
राजनांदगांव

चित्रफलक–२

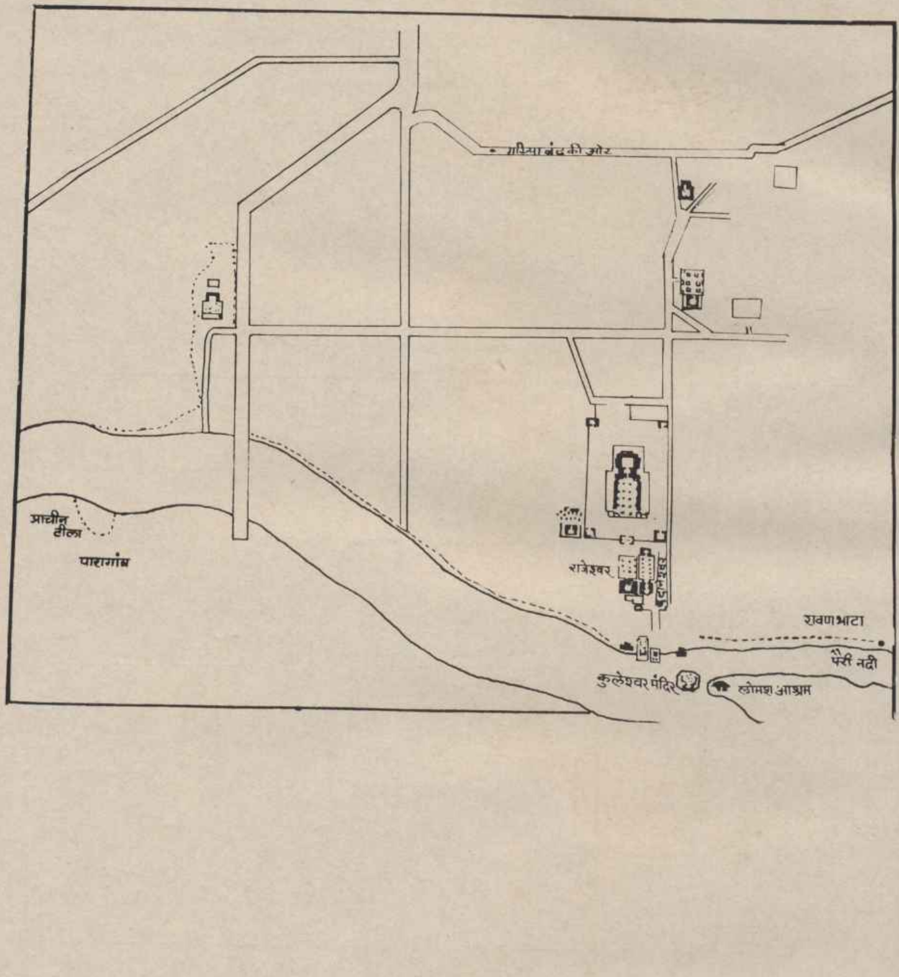

मृण पात्रों की रेखानुकृति

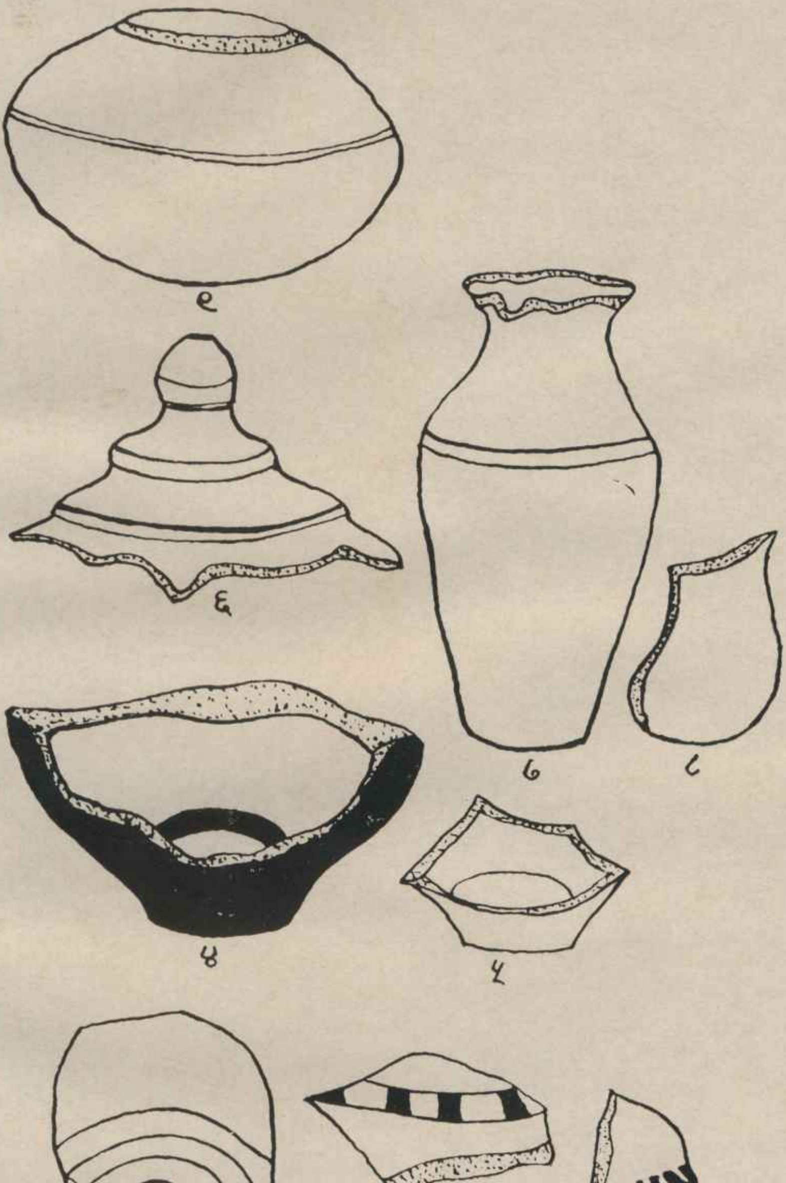

चित्रफलक–४

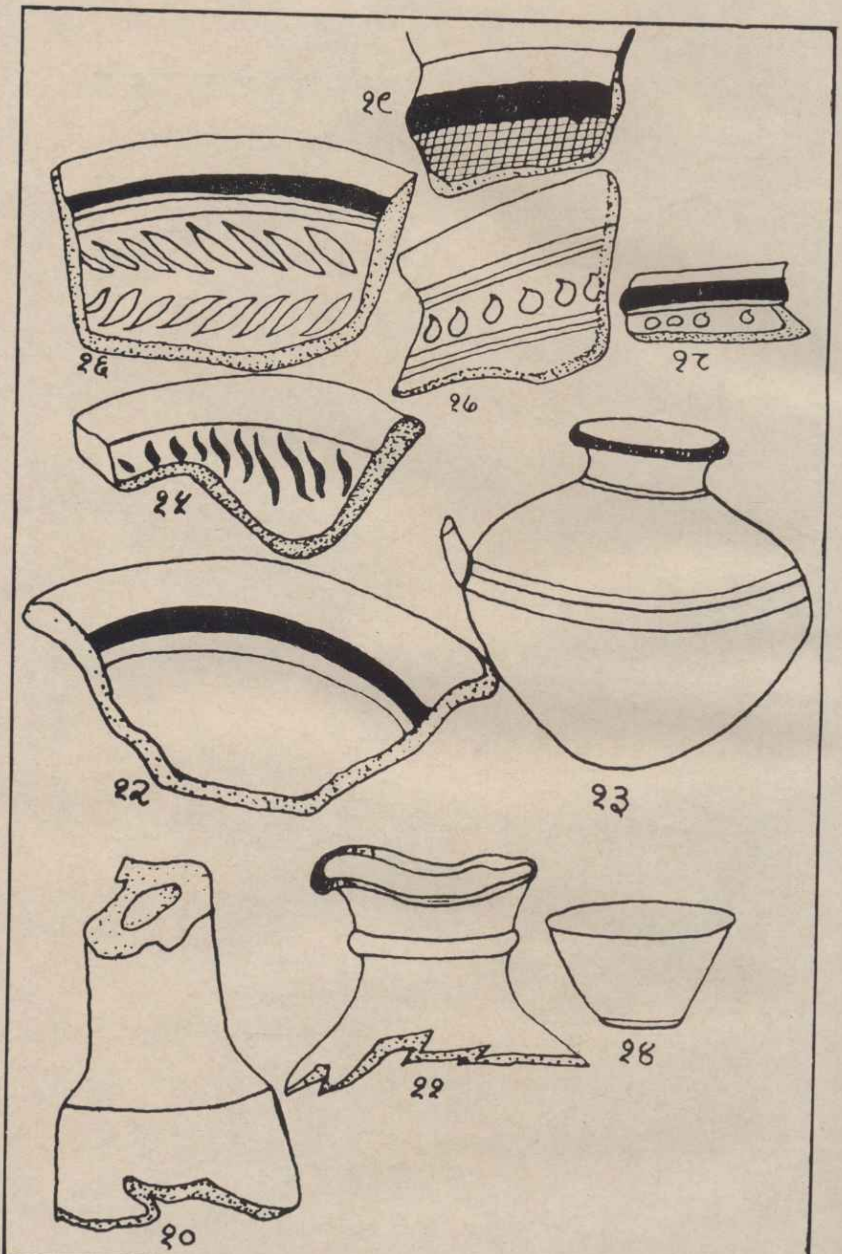

चित्रफलक–५

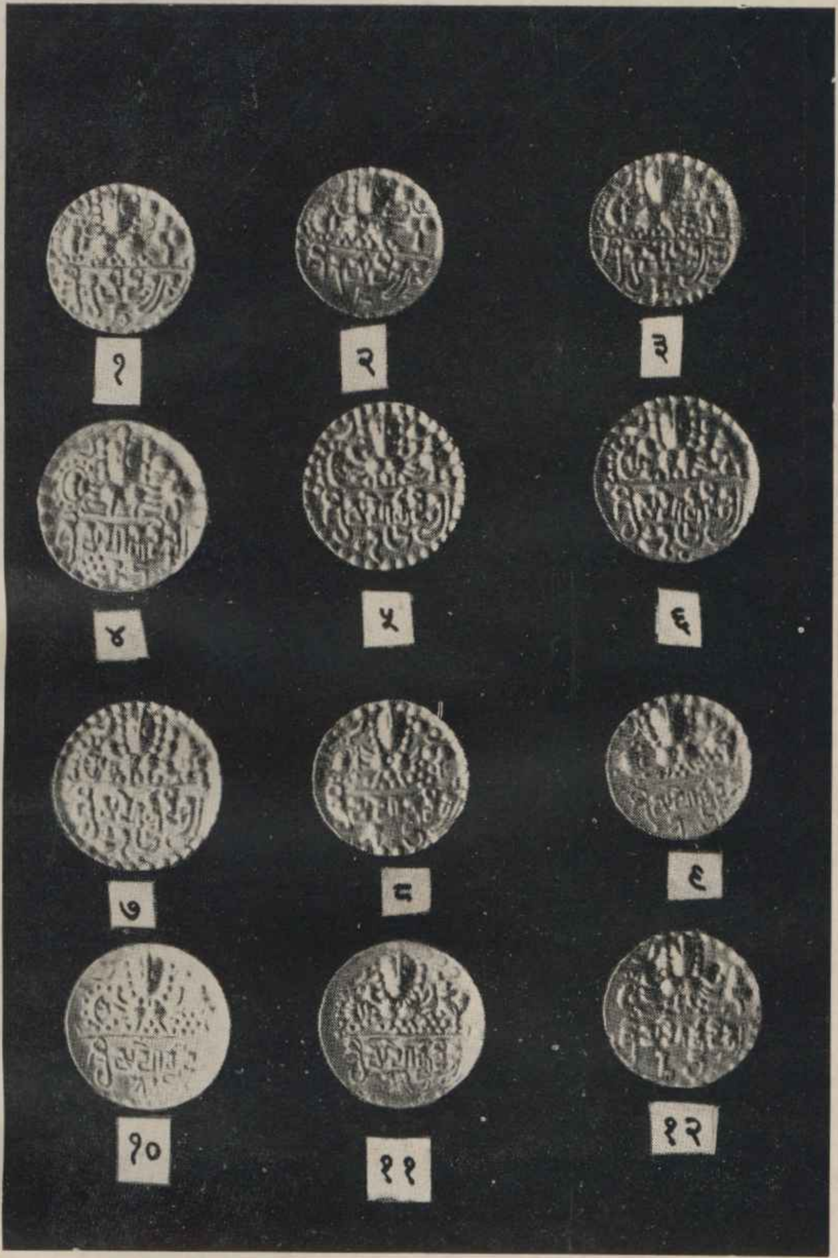

क्रमांक : १, २ एवं ३—क्रमादित्य की स्वर्ण मुद्राएँ
क्रमांक : ४ से १२—महेन्द्रादित्य की स्वर्ण मुद्राएँ

चित्रफलक-६

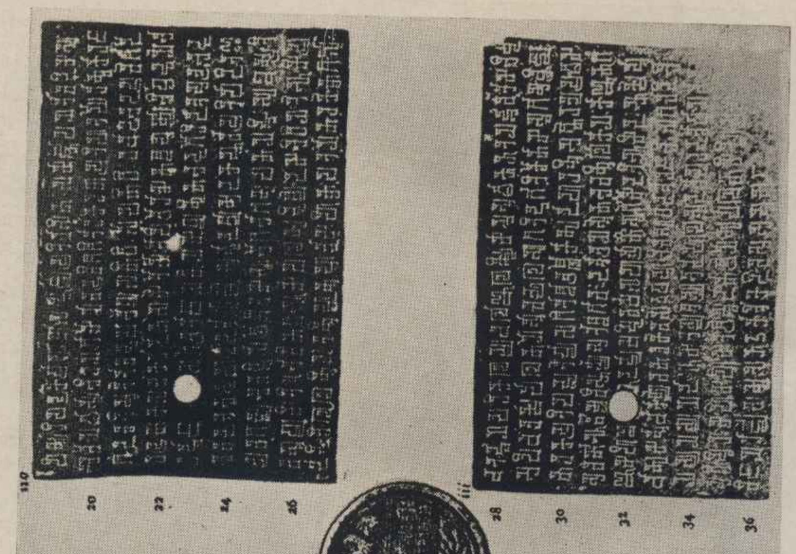

महाशिव तीवरदेव का राजिम से प्राप्त ताम्रपत्र

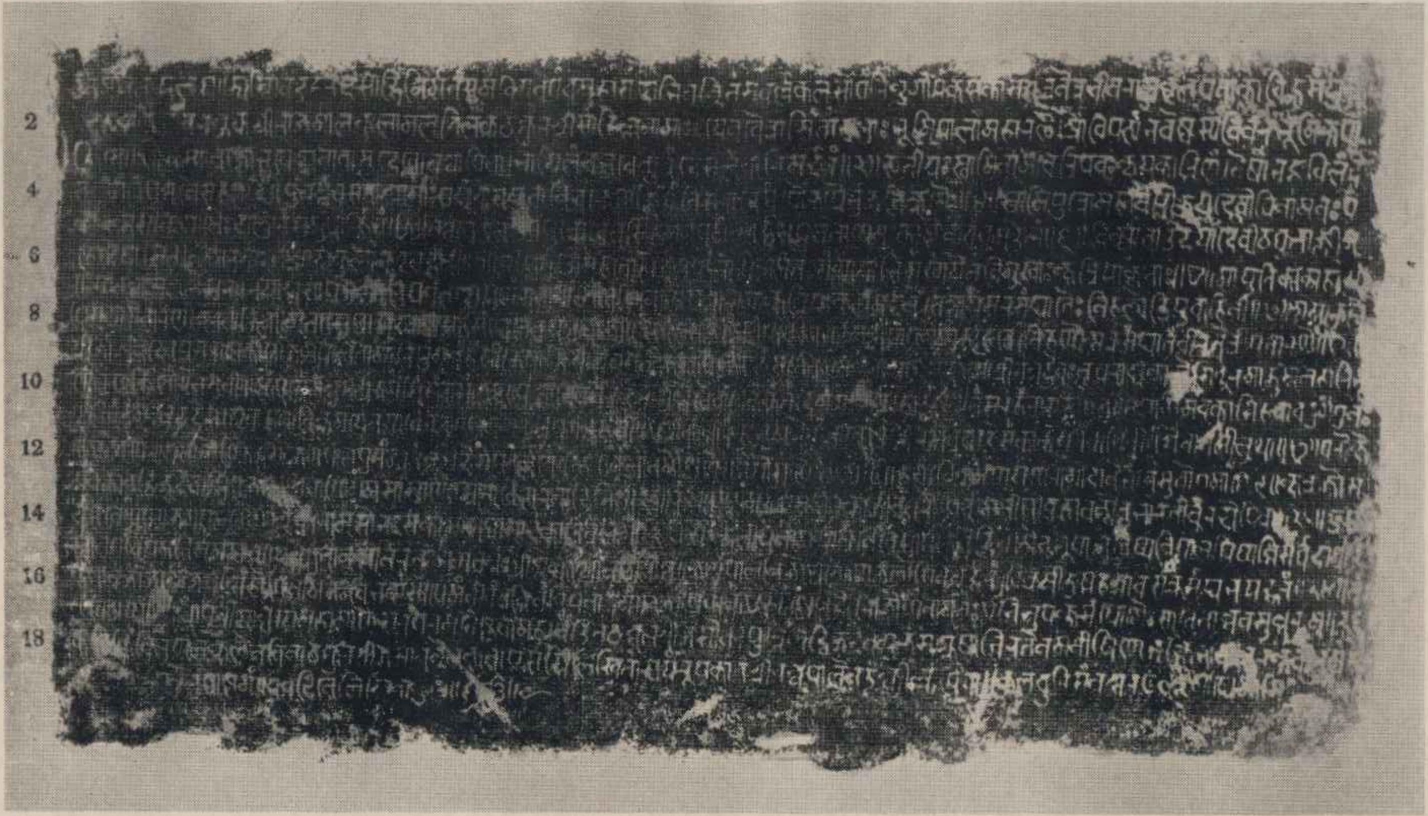

राजीवलोचन मन्दिर की वाम-पार्श्व भित्ति पर जड़ा जगपाल देव का शिलालेख

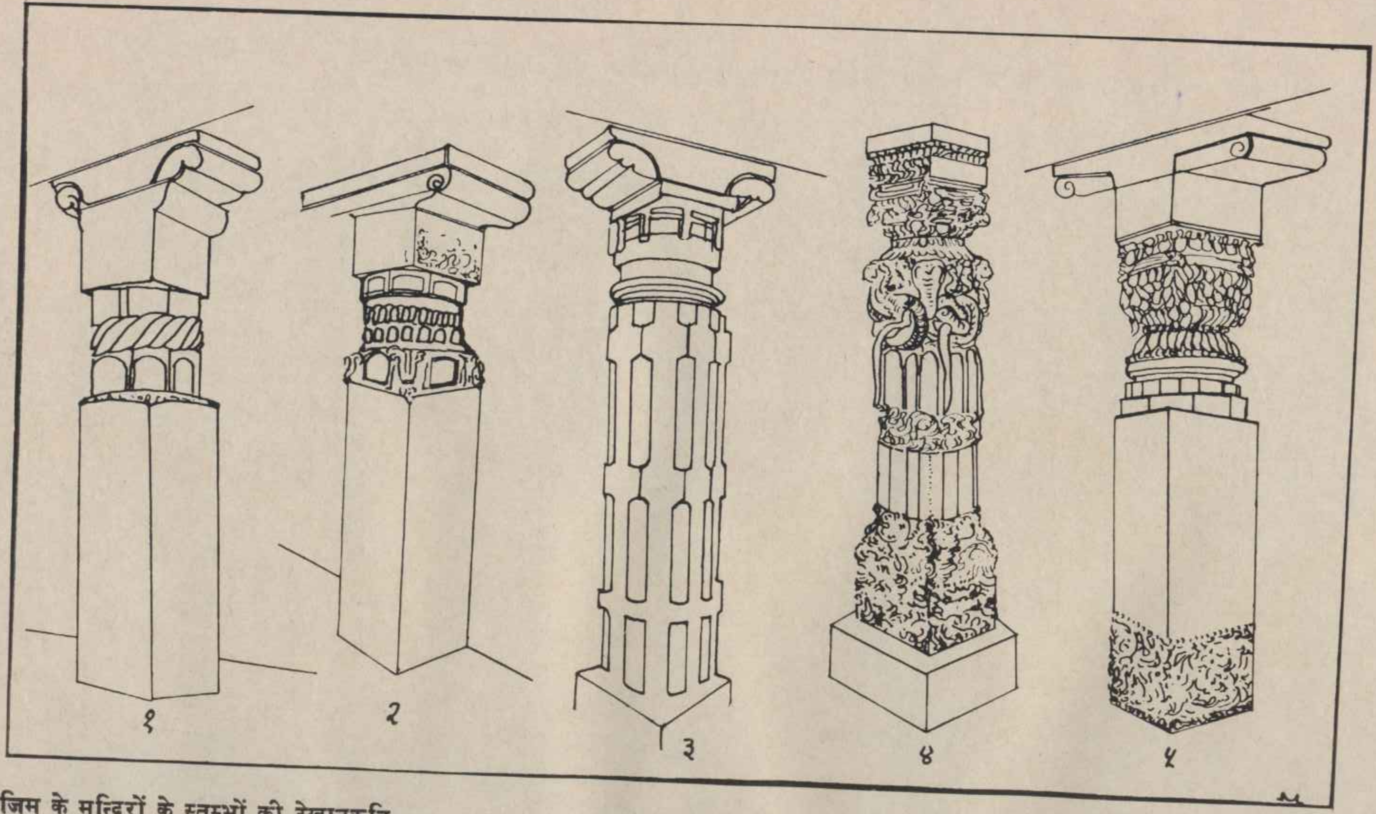

राजिम के मन्दिरों के स्तम्भों की रेखानुकृति—

क्रमांक—१ राजेश्वर मन्दिर के महामण्डप के एक स्तम्भ की रेखानुकृति

क्रमांक—२ राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार-प्रवेश द्वार के अन्तः प्रकोष्ठ के एक स्तम्भ की रेखानुकृति

क्रमांक—३ राजेश्वर मन्दिर के महामण्डप के एक स्तम्भ की रेखानुकृति

क्रमांक—४ राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार-प्रवेश द्वार के बाह्य प्रकोष्ठ के वाम स्तम्भ की रेखानुकृति

क्रमांक—५ राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के एक स्तम्भ की रेखानुकृति

चित्रफलक—९

१—राजीवलोचन मन्दिर प्राकार-प्रवेशद्वार के बाह्यप्रकोष्ठ का स्वरूप

२—राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार-प्रवेशद्वार के बाह्य-प्रकोष्ठ का दक्षिण स्तम्भ

चित्रफलक–१०

१—राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार के त्रिशाख प्रवेश द्वार का सिरदल

२—राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार-प्रवेश द्वार के बाह्य प्रकोष्ठ के वामभित्ति स्तम्भ की नायिका-मूर्ति

३—राजीवलोचन मन्दिर के प्रवेश द्वार के बाह्य प्रकोष्ठ के दक्षिण भित्ति-स्तम्भ की नायिका-मूर्ति

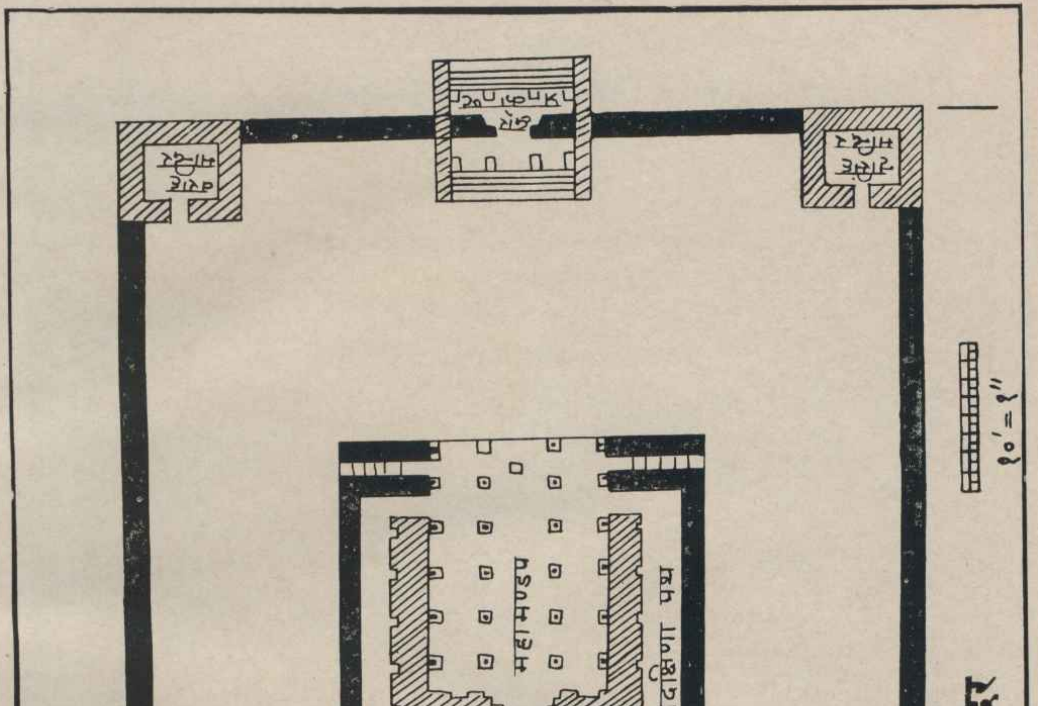

राजिवलोचन मन्दिर

चित्रफलक–१२

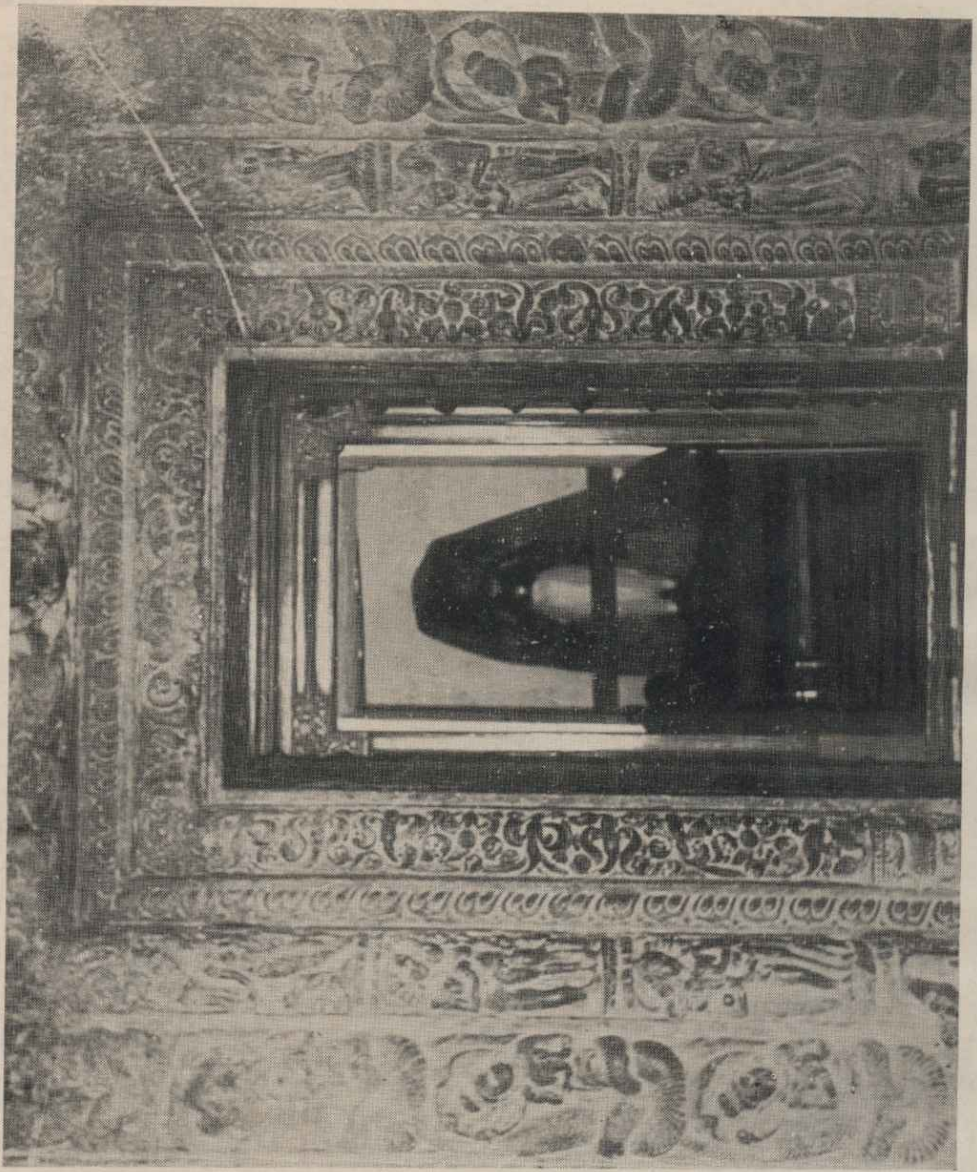

राजीवलोचन मन्दिर के गर्भगृह का प्रवेश द्वार

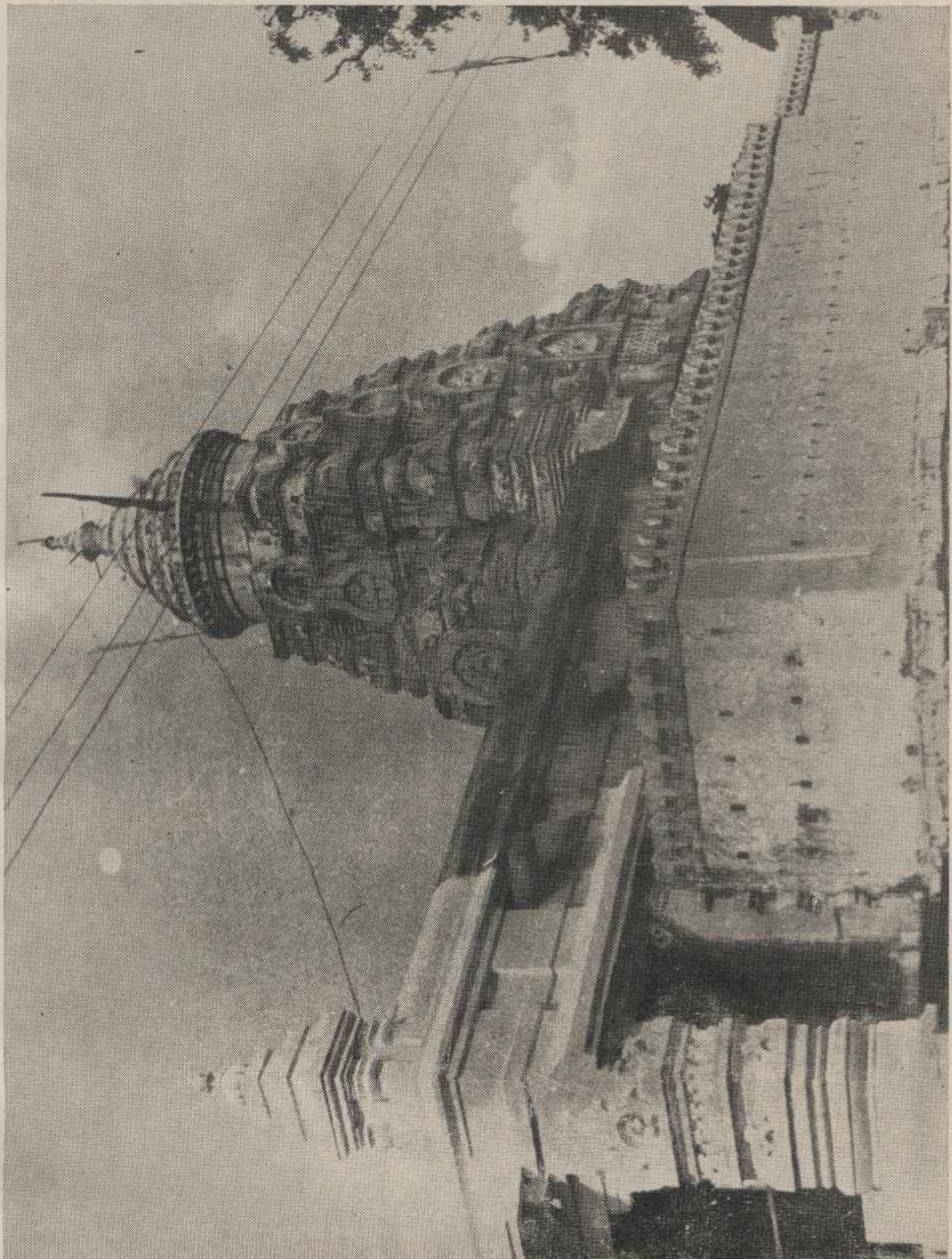

राजीवलोचन मन्दिर के उत्सेध विन्यास को प्रकट करने वाला छाया चित्र

१—राजेश्वर मन्दिर के उत्सेध विन्यास को स्पष्ट करने वाला छाया चित्र

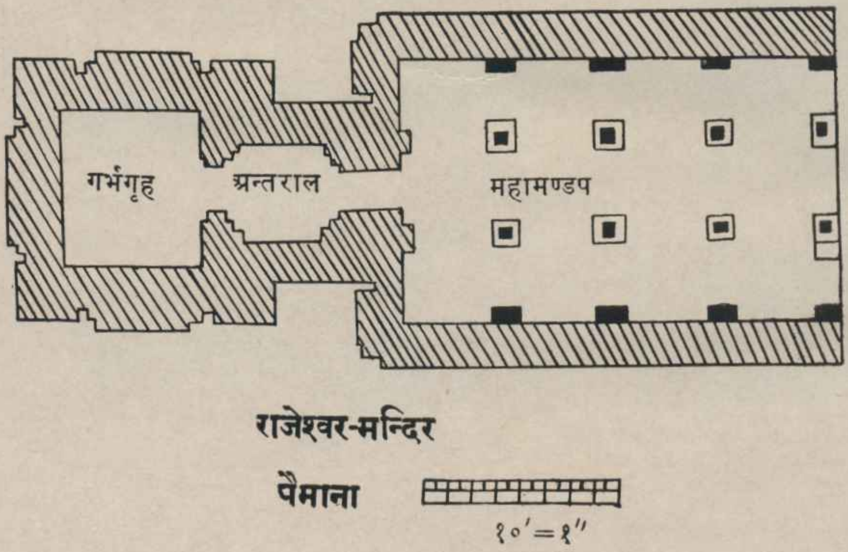

२—राजेश्वर मन्दिर का भू-विन्यास

१— दानेश्वर मन्दिर के उत्सेध-विन्यास का छाया चित्र

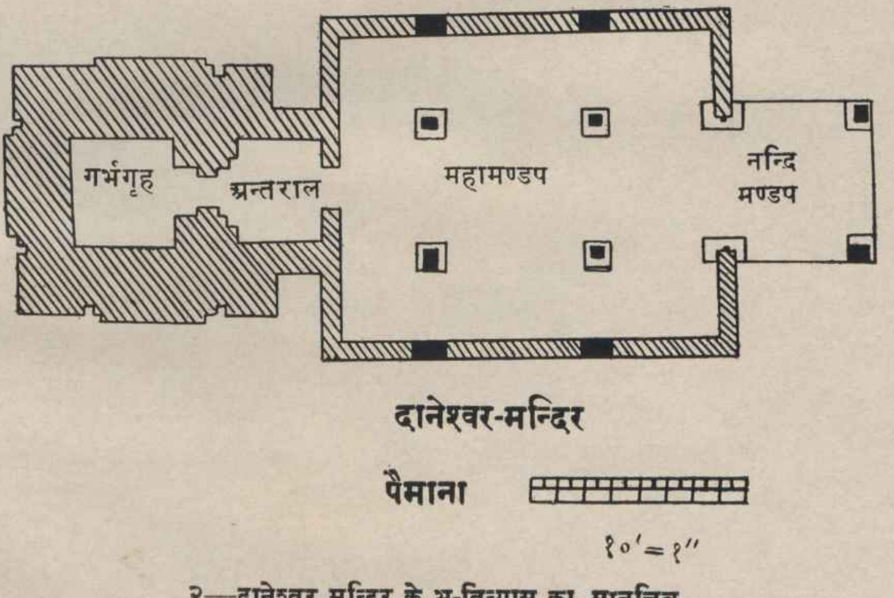

२—दानेश्वर मन्दिर के भू-विन्यास का मानचित्र

१—पंचेश्वर मन्दिर के उत्सेध विन्यास का छाया चित्र

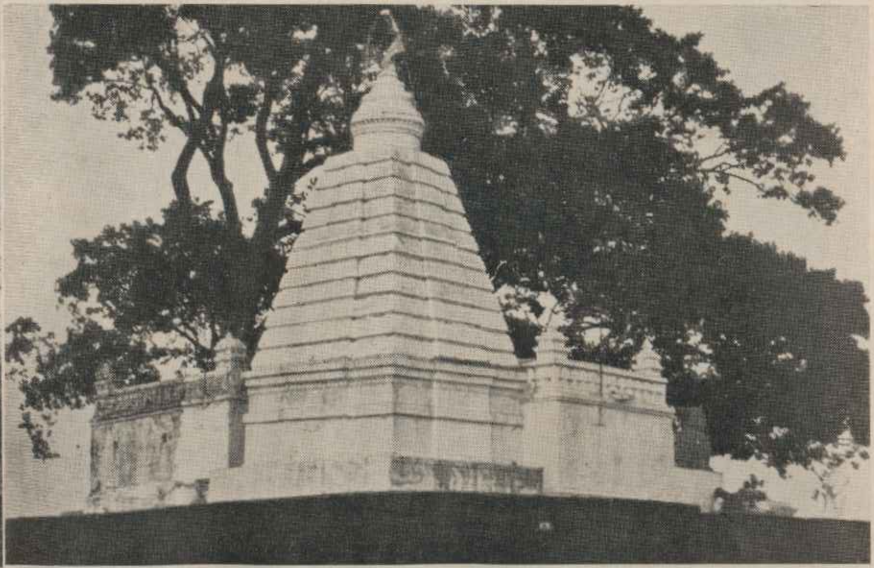

२—कुलेश्वर महादेव मन्दिर के उत्सेध विन्यास का छाया चित्र

रामचन्द्र मन्दिर का छाया चित्र

चित्रफलक–१८

१—रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप की बांयी पंक्ति के तीसरे स्तम्भ पर उभार में बनायी गयी नायिका-मूर्तियाँ

२—रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप की दक्षिण पंक्ति के तीसरे स्तम्भ पर बनायी गयी शालभंजिका-मूर्ति

३—रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप की बांयी पंक्ति के दूसरे स्तम्भ पर बनायी गयी मिथुन मूर्ति

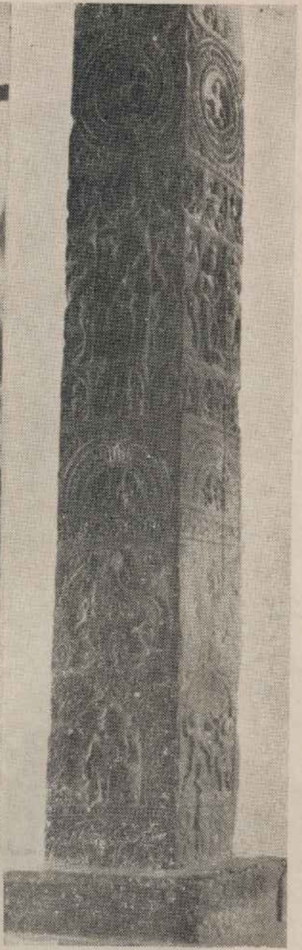

४—रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप की बांयी पंक्ति के चौथे स्तम्भ का छाया चित्र

बनायी गयी शालभंजिका-मूर्ति बनायी गयी मिथुन मूर्ति का छाया चित्र

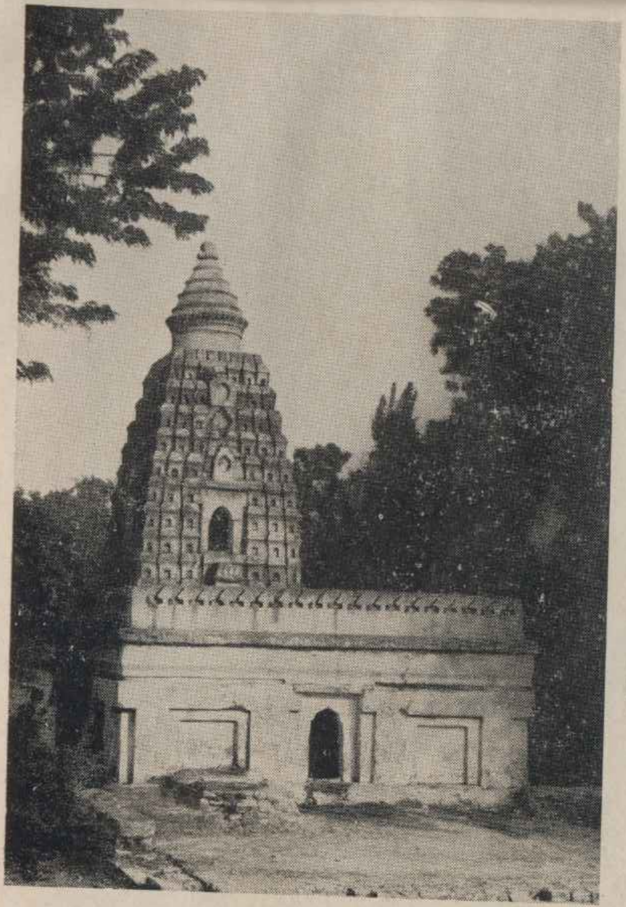

१—सोमेश्वर मन्दिर के उत्सेध विन्यास का छाया चित्र

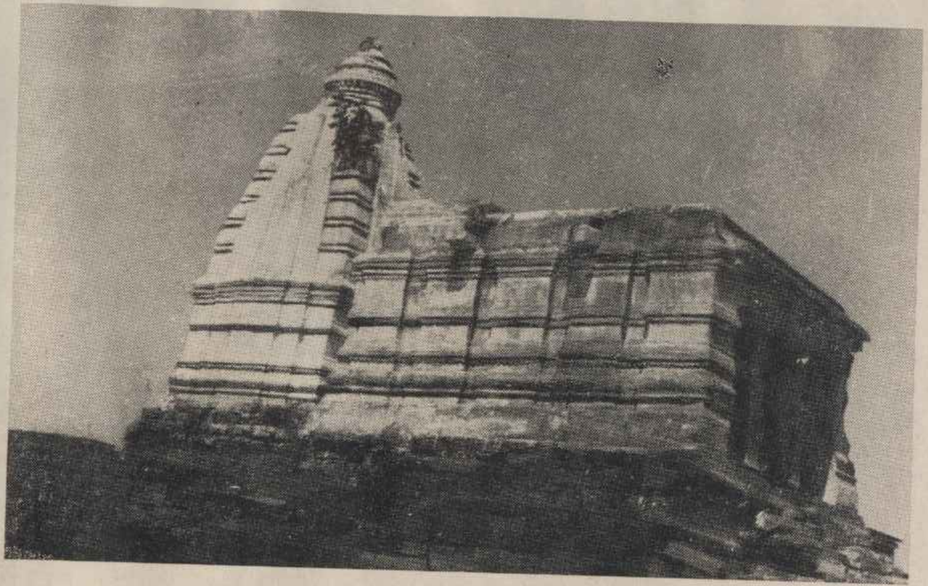

२—भूतेश्वर मन्दिर का छाया चित्र

१—सोमेश्वर मन्दिर के प्रांगण में रखी पार्श्वनाथ की प्रतिमा

२—राजीवलोचन मन्दिर के प्राकार-प्रवेश द्वार के अन्तः प्रकोष्ठ में रखी भगवान बुद्ध की भू-स्पर्श मुद्रा में मूर्ति

१—कार्तिकेय
कुलेश्वर मन्दिर

२—महिषासुरमर्दिनी
भूतेश्वर मन्दिर

३—अज्ञात देवी
(उत्पलाक्षी) कुलेश्वर मन्दिर

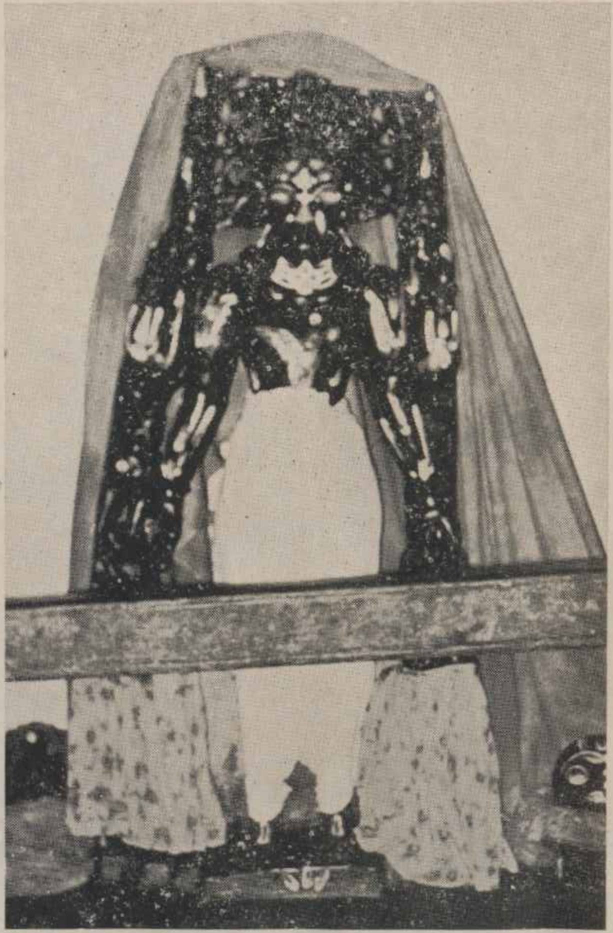

१—यज्ञपुरुष रूप में भगवान विष्णु की मूर्ति : राजीवलोचन मन्दिर के गर्भगृह में प्रतिष्ठित (भगवान राजीवलोचन)

२—भगवान विष्णु की स्थानक मुद्रा में मूर्ति : दानेश्वर मन्दिर के दक्षिण में प्राकार-भित्ति पर जड़ी

१—वाराह मन्दिर में प्रतिष्ठित नृवाराह प्रतिमा

२—रामचन्द्र मन्दिर के चौथे वाम पाश्व-भित्ति-स्तम्भ पर बनायी गयी नृवाराह प्रतिमा

३—नरसिंह मन्दिर के गर्भ-गृह में प्रतिष्ठित नृसिंह मूर्ति

१—वामन मन्दिर : वामन रूप में विष्णु एवं बलि की प्रतिमा

२—त्रिविक्रम मूर्ति : राजीवलोचन मन्दिर के वाम प्राकार भित्ति पर जड़ी हुई

३—बद्रीनाथ मन्दिर : नारायण तपश्चर्या (बैंकुण्ठ नारायण) मूर्ति

१—रामचन्द्र मन्दिर के महामण्डप के प्रथम वाम भित्ति-स्तम्भ पर बनायी गयी नदी देवी गंगा की प्रतिमा

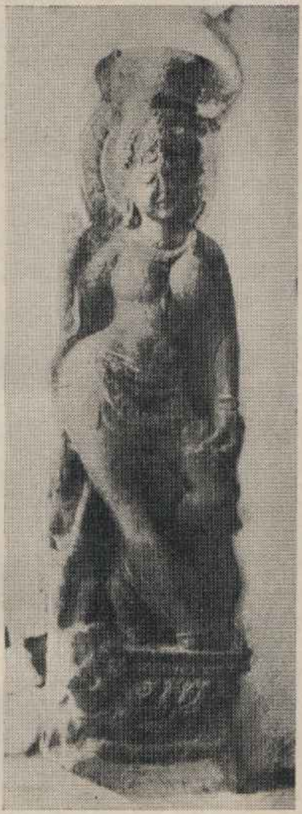

२—रामचन्द्र मन्दिर के दक्षिण भित्ति-स्तम्भ पर बनायी गयी नदी देवी गंगा की मूर्ति उसके पाद-पीठ पर उत्खचित मत्स्य युग्म ।

१—मिथुन मूर्ति : प्रवेश द्वार राजीवलोचन मन्दिर प्राकार प्रतिमा

२—मिथुन मूर्ति : प्रवेश द्वार राजीव लोचन मन्दिर प्राकार प्रतिमा

३—दानेश्वर मन्दिर के सामने प्राकार भित्ति पर जड़ी राजपुरुष की मूर्ति

१—रामचन्द्र मन्दिर के वाम चतुर्थ भित्ति-स्तम्भ के पार्श्व में नाग-बंध युक्त स्तम्भ

२—राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप के दक्षिण प्रवेश द्वार की अंत भित्ति पर उत्खचित विहाररत यक्ष मूर्तियाँ

३—राजीवलोचन मन्दिर के महामण्डप में प्रवेश के लिए बनाये गये प्रवेश द्वार के पार्श्वों के अधोभाग पर आलेखित हरि-हंस मूर्ति

अकादमी के कुछ प्रकाशन

१—यूरोप का इतिहास	ठाकुर भगवान सिंह वर्मा
२—वेलेजली कालीन भारत	डा० कु० चन्द्रावली गुप्ता
३—यूरोप का इतिहास	श्री डी० एस० चौहान
४—प्राचीन भारतीय सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाएँ	डा० कैलाशचन्द्र जैन
५—त्रिपुरी	डा० अजय मित्र शास्त्री
६—भरहुत	डा० रमानाथ मिश्र
७—पद्मावती	डा० मोहनलाल शर्मा
८—बाघ	श्री एम० डी० खरे
९—राजिम	डा० विष्णुसिंह ठाकुर
१०—प्रतिमा-विज्ञान	डा० इन्दुमती मिश्र
११—मध्यप्रदेश : एक भौगोलिक अध्ययन	डा० प्रमीला कुमार
१२—विश्व राजनीति में भारत	डा० कृष्णा कुदेशिया
१३—आधुनिक एशिया का राजनीतिक चिन्तन	डा० रामप्रकाश गुप्त
१४—भारतीय मनोविज्ञान	डा० लक्ष्मी शुक्ला
१५—वेदान्त का विकास और स्वरूप	डा० महेन्द्र शेखावत
१६—आधुनिक चिन्तन में वेदान्त	डा० महेन्द्र शेखावत
१७—धर्म-दर्शन	डा० रामनारायण व्यास
१८—भारतीय दर्शन में अनुमान	डा० वृजनारायण शर्मा
१९—आचार्य हेमचन्द्र	श्री वि० भा० मुसलगांवकर
२०—आचार्य मम्मट	प्रोफे० डी० जी० सप्रे
२१—आचार्य राजशेखर	डा० श्यामा वर्मा
२२—आचार्य भरत	डा० शिवशरण शर्मा
२३—आनन्दवर्धन	डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी
२४—भास	डा० नेमिचन्द्र शास्त्री
२५—अप्पय दीक्षित	डा० नरेन्द्र शर्मा
२६—संस्कृत साहित्य में एकांकी रूपक	डा० वीरबाला शर्मा
२७—साहित्य समीक्षा के पाश्चात्य मानदण्ड	डा० राजेन्द्र वर्मा
२८—प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य	डा० विजय बापट
२९—हिन्दी का प्रगतिवादी काव्य साहित्य	डा० कृष्णलाल 'हंस'
३०—भारतेन्दु युगीन हिन्दी नाटक	डा० सुशीला धीर
३१—नयी कविता	डा० कान्ति कुमार जैन
३२—प्रसाद युगीन हिन्दी नाटक	डा० भगवती प्रसाद शुक्ल
३३—अंग्रेजी की स्वच्छन्द कविता	श्री प्रमोद वर्मा
३४—आदिकालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका	डा० राममूर्ति त्रिपाठी
३५—आधु० पाश्चात्य काव्य समीक्षा और उसके उपादान	डा० नरेन्द्र देव वर्मा
३६—प्रयोगवादी काव्य	डा० पवनकुमार मिश्र
३७—हिन्दी और उसकी विविध बोलियाँ	प्रो. दीपचन्द्र जैन एवं डा० कलाश तिवारी
	श्री के० पी० नारायणन्
३८—सम्पादन कला	डा० सुकमाल जैन
३९—भारतीय समाचार पत्रों का संगठन एवं प्रबन्ध	डा० शरतचन्द्र श्रीधर परांजपे
४०—संगीत बोध	

शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल द्वारा प्रकाशित